आयुर्वेदमार्त्तण्ड वैद्यरत्न प्राणाचार्य

श्रीलक्ष्मीरामजी स्वामी

भिषगाचार्य

का

जीवनचरित्र।

लेखक—

मङ्गलदास स्वामी

श्री दादू महाविद्यालय,

मोतीडूंगरी, जयपुर।

सं० १९९७

क—
श्री दादू महाविद्यालय,
मोतीडूंगरी, जयपुर।

प्रथम संस्करण १००० प्रतियां।

मुद्रक—
लाडलीनारायण गोयल
मनोरंजन प्रेस
जयपुर।

प्राक् कथन ।

हमारे शास्त्रों में इतिहास वा जीवनचरित की उपयोगिता इसी आधार पर मानी गई है कि मनुष्य भी एक अनुकरणशील प्राणी है। यद्यपि अनुकरण-शीलता दूसरे प्राणियों में भी बहुधा देखी जाती है जैसा कि भेड़ियाधसान एक प्रसिद्ध शब्द है, किन्तु इतनी विशेषता है कि विवेचना शक्ति का विकाश होजाने के कारण मनुष्य उन विशिष्ट व्यक्तियों का ही अनुकरण करना चाहता है, जो अपने संग्राम में सफल हुये हैं। और उनकी भी उन ही क्रियाओं को यह अनु-करणीय मानता है जो उनकी सफलता प्राप्ति में साधन बनी हों। इस ही लक्ष्य से ऐसे विशिष्ट पुरुषों के– जिन्होंने अनेक अंशों में सफल जीवन निवाहा, चरित लिखने की प्रणाली बहुत पूर्वकाल से चली आ रही है, और इस युग में तो यन्त्रालय-समाचार पत्र आदि की सहायता से इस प्रणाली का बहुत कुछ विस्तार हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि बिस्तार के साथ २ दुरुपयोग भी आज कल इस प्रणाली का देखा जाता है. बहुत से जीवन चरित ऐसे भी निकलते हैं जिनमें अनुकरण वा शिक्षा की कोई बात नहीं मिलती केवल पांच सवारों में नाम लिखा देने के लिये ही उन चरितों का निर्माण होता है जो कि समय और द्रव्य का दुरुपयोग ही कहा जा सकता है किन्तु मैं पाठकों को यह विश्वास दिलाऊँगा कि प्रस्तुत जीवनचरित ऐसा नहीं है।

यह एक ऐसे व्यक्ति का जीवन चरित है जिनके जीवन की सफलता में किसी को सन्देह हो नहीं सकता। स्वनामधन्य श्री लक्ष्मीरामजी स्वामी एक ऐसे पुरुष थे जैसे सब देशों और सब काल में पैदा नहीं होंगे। ईश्वरेच्छानुसार किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये किसी खास समय और खास स्थान पर

हो ऐसे पुरुषों का जन्म होता है। वे अपने पीछे आने वालों के लिये शिक्षा रूप से बहुत कुछ छोड़ जाते हैं। इसलिये ऐसे व्यक्ति का चरित लिख श्री स्वामी मङ्गलदासजी ने लोक का उपकार किया है इसमें सन्देह नहीं।

ग्रन्थ लेखक ने अपना विनय प्रदर्शन करते हुये जो दो तीन बार इस बात को दोहराया है कि वे श्री स्वामी जी का जैसा चाहिये–वैसा जीवन चरित्र नहीं लिख सके, इसको कुछ अंशों में मैं भी एक तथ्य मानता हूं। श्री स्वामीजी का जीवन चरित अधिक परिमाजित और ओजस्वी भाषा में लिखा जाना चाहिये था। स्वामी मंगलदासजी ने यह जीवन चरित लिखा भी शीघ्रता में है यह प्रतीत होता है। वे लिखते गये और साथ ही प्रेस में देते गये। सम्पूर्ण की फिर एक बार आलोचना करने का समय उन्हें नहीं मिला। अतएव कई घटनाओं का सिलसिला ठीक नहीं जमा है, जैसा कि प्रायोगिक शिक्षा के लिये कलकत्ता जाना श्री स्वामीजी के जीवन को एक खास और पूर्वायु की घटना थी, किन्तु इस जीवन चरित में बहुत दूर जाकर गौण भाव में वह हमें पढ़ने को मिलती है। कई बातों में विपर्यय भी हो गया है जैसा कि स्वामीजी को "आयुर्वेद मार्तण्ड' पद प्राप्त होना इस जीवन चरित में उनके कलकत्ता सम्मेलन के सभापतित्व की वक्तृता का फल बताया गया है, किन्तु 'आयुर्वेद मार्त्तण्ड' पद श्री स्वामी जी को कलकत्ता सम्मेलन से कई वर्ष पूर्व स्वर्गीय शङ्करदत्त जी शास्त्री के जमाने में ही मिल चुका था, उसी समय इनकी योग्यता की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी। इसका कारण यह भी हो सकता है कि स्वामी मंगलदास जी महोदय अभी युवक ही हैं। वे उन घटनाओं के प्रत्यक्ष दर्शक नहीं हैं, अतः सुनी सुनाई बातों के आधार पर ही उन्होंने आरम्भ की घटनायें लिखी हैं। उनकी कार्य शक्ति का जहाँ विवरण किया गया है वहाँ आयुर्वेद सम्मेलन के जयपुर वाले अधिवेशन व श्री मधुसूदन अभिनन्दन समिति के यहाँ से संस्कृत साहित्य सम्मेलन का उल्लेख आवश्यक था। ये दोनों समारोह जयपुर के व इन संस्थाओं के

इतिहास में खास स्थान और स्वामी जी की विद्याशीलता के ही फल थे। उनके शिष्यों को देश व्याप्ति दिखाने में भी नैपाल, सिन्ध जैसे देशों का नाम आवश्यक था, जहाँ के छात्र उनके पास संस्कृत कालेज में पढ़कर सफलता प्राप्त कर अपने देशों को गये हैं। अस्तु-ऐसी कुछ गिनती की त्रुटि रह जाने पर भी बहुत अंशों में स्वामी मंगलदास जी सफल हुये हैं। अन्य कोई पुरुष सब घटनाओं का समावेश कर इतना शीघ्र ऐसा भी जीवन चरित प्रस्तुत कर कर सकता कि नहीं, इसमें बहुत सन्देह है।

इन पंक्तियों के लेखक का भी श्री स्वामी लक्ष्मीराम जी से घनिष्ट संपर्क रहा है। और यह संपर्क अध्ययन काल से ही था उनका अध्ययन काल समाप्त हो रहा था, और हम लोगों का अभी विकाशोन्मुख था, इतना ही भेद रहा है। जीवन चरित में इस बात का स्पष्ट विवरण नहीं हुआ कि श्री स्वामी जी 'मिलनसार' भी पूर्ण थे। साधु संप्रदाय के होने पर भी वे रूक्ष प्रकृति के न थे। उन्होंने अध्ययन काल से ही अपनी एक 'मंडली' बनाई थी। इस मंडली के निर्माण में प्रधान हाथ स्व० श्री माधवजी पुरोहित का था, जिनका जिक्र जीवन चरित पृष्ट १२ में आया है, और दूसरे इसके संयोजक वैद्य दुर्गाप्रसादजी भिषगाचार्य थे, जो श्री स्वामीजी के सतीर्थ्य भी रहे और पीछे शिष्य भी। इन पर श्री स्वामीजी की बहुत ही कृपा रही। इस मंडली में प्रायः संस्कृत के पण्डितों का ही समावेश था। जो किसी कारण प्रसिद्धि प्राप्त और श्री स्वामीजी की प्रकृति के अनुकूल जँचते थे, वे ही चुन चुन कर इसमें रखे जाते थे। अपनी प्रतिष्ठा, पदमर्यादा, व आश्रय के स्वरूप का अंशतः भी जहाँ तक विरोध न हो वहाँ तक श्री स्वामी जी समय समय पर इस मंडली के साथ आमोद, प्रमोद में भाग लेते थे। इसकी सत्ता उनके जीवन के अन्त तक किसी न किसी रूप में रही। अस्तु. इन पंक्तियों लेखक को भी इस मंडली में रहने का सौभाग्य प्राप्त था। और यह भी निःसंकोच कहूंगा कि अपनी जीवन घटनाओं में अनेक बातों

में श्री स्वामीजी द्वारा मैं पूर्ण उपकृत होता रहा। अपने ही नहीं, अपने कुटुम्ब भर के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में तो अध्ययन काल से ही मैं एक मात्र श्री स्वामीजी पर अवलम्बित था। शरीर प्रायः रुग्ण रहता है, इससे इस सम्बन्ध में भी उन्हें बार बार सताया जाता था। एक बार प्रबल रोग का आक्रमण होने पर और श्री स्वामी जी के डाक्टर को दिखाने की संमति देने पर मैंने स्पष्ट ही उनसे कहा था कि यह नहीं हो सकता। आप निश्चित समझिये कि मुझे स्वास्थ्य लाभ होगा तो आपकी चिकित्सा से, और शरीर जाना होगा तो वह भी आपकी चिकित्सा में रहते ही जायेगा। दुर्भाग्यवश अब वह प्रतिज्ञा ईश्वर ने तुड़वादी अस्तु-इन सब बातों के कहने का प्रयोजन यही है कि उनके जीवन की घटनाओं व उनकी प्रकृति आदि के सूक्ष्म समीक्षण का अवसर हमें प्राप्त होता रहा है। संस्कृत रत्नाकर का "आयुर्वेदाङ्क" जो उनके अभिनन्दन निमित्त ही प्रकाशित किया गया था-उसमें उनकी मण्डली के दो एक सज्जनों के लेख संस्कृत में छपे हैं जिनसे उनकी प्रकृति, योग्यता आदि पर अधिक प्रकाश पड़ता है।

नीति का एक श्लोक प्रसिद्ध है कि—

"गुणेषु यत्नः क्रियतां किमाटोपैः प्रयोजनम्।
विक्रीयन्ते न घंटाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः॥

मनुष्य को गुण प्राप्ति का यत्न करना चाहिये, आडम्बरों से क्या मतलब निकलेगा। बिना दूध की गायें घण्टे बांध २ कर नहीं बेची जा सकती हैं। यह नीति वचन श्री स्वामीजी के जीवन का आदि से अन्त तक ध्येय था। यह युग इस वचन के सर्वथा प्रतिकूल है। आज कल आडम्बर में गुणों की अपेक्षा चतुर्गुण प्रयत्न किया जाता है। बहुत से अच्छे २ पुरुषों के मुख से भी सुना जाता है कि इस जमाने में आडम्बर बिना काम नहीं चलता। किन्तु आश्चर्य है कि इस जमाने में भी आडम्बर से सर्वथा पृथक रह कर श्री स्वामीजी ने पूर्ण सफलता पाई। उन्होंने स्पष्ट दिखा दिया कि यदि वास्तविक गुण है तो आडम्बर

की कोई भी आवश्यकता नहीं है। गुण वस्तु ही ऐसी है कि उसका विकाश स्वतः होता है। मैं तो यही मानता हूं कि इस जमाने में भूले हुये इस आदर्श को फिर सत्य रूप से प्रकट कर देना ही श्री स्वामीजी के जन्म का लक्ष्य था।

जिन दिनों श्री स्वामीजी कलकत्ता से प्रायोगिक शिक्षा प्राप्त कर यहाँ लौट आये थे, और परिष्कृत रूप में अपने औषधालय को कार्यार्थ सुसज्जित किया था, उन दिनों हम लोगों में बराबर यह चर्चा चलती थी कि समयानुकूल औषधालय का सूचीपत्र मुद्रित होकर प्रसिद्ध किया जाना चाहिये। हम ही लोगों में से किसी ने सूचीपत्र बना लिया, किसी ने भूमिका लिख दी यहाँ तक भी उन्हीं दिनों हो चुका था। किन्तु उसका प्रकाशन तो आज तक भी नहीं हुआ। देश के कौने कौने में हज़ारों वा लाखों मनुष्यों ने इस औषधालय की औषधियों से लाभ उठाया, आय भी इसके द्वारा लाखों की हुई, किन्तु न कभी कहीं इसका विज्ञापन किसी ने देखा होगा, न सूचीपत्र। ऐसा दृष्टांत इस युग में अत्यन्त असंभव नहीं तो दुष्प्राप्य अवश्य है. जैसा कि जीवन चरित के पृष्ठ ६४ पर लिखा गया है। आपके यहां बीमारों का रजिस्टर अब तक नहीं बना।

लेखक ने लिखा है, आपका व्यवस्था-पत्र देसी सफेद कागज का रहना था किन्तु यह बहुत पीछे की बात है। आरम्भ में ही नहीं, मध्य काल तक जहाँ तक रोगियों की संख्या सैंकड़ों तक थी, आपका व्यवस्था पत्र आपको वाणी ही थी। रोगी को देख कर विचारान्तर कम्पाउन्डर को जबानी आज्ञा मिल जाती थी कि अमुक औषध इनको देदो और फिर विशेषता यह कि सेवन के बाद जब वह फिर आया, चाहे कई दिन बाद ही क्यों न आयो हो आपको पूरा स्मरण रहता कि इसे अमुक औषधि दी गई थी यह घटना एक दो दिन की नहीं दश पन्द्रह वर्ष हमने प्रत्यक्ष देखो है। जब रोगियों की संख्या सैंकड़ों से हजारों पर पहुंच गई, और अवस्था बढ़जाने से आपकी स्मृति की वह अलौकिकता भी कम हो गई, तब वह प्रायः चालीस वर्ष की अवस्था के आस पास वे सफेद कागज पर

व्यवस्था पत्र लिखने लगे थे। आरम्भिक दशा में यह भी हम नित्य ही देखते थे कि रोगी को देख कर व्यवस्था के विचार में श्री स्वामी जी आध घण्टा तक समय लगा देते थे। इतनी देर वे चुप चाप रहते, और रोगी सामने बैठा उनके मुख की ओर देखता रहता। पाठक सोचें कि कुछ भी आडम्बर से सम्बन्ध रखने वाला मनुष्य ऐसा कब कर सकता है। उसे तो अपनी प्रतिष्ठा जाने का भय सतावेगा। रोगियों के कम आने की शंका व्याकुल करेगी। किन्तु हमारे चरित नायक इन शंकाओं से कर्त्तव्य विच्युत कभी नहीं हुये। पूर्ण विचार कर चिकित्सा करना-इस 'गुण' सिद्धान्त को ही उन्होंने आरम्भ से निभाया। इससे उनकी उन्नति में विलम्ब अवश्य हुआ, किन्तु वह क्रमिक उन्नति स्थापिनी हुई, उसमें धक्का कभी नहीं लगा। उनकी चिकित्सा से भी रोगी को लाभ भले ही देर से हुआ हो, किन्तु हानि कभी किसी को हुई हो, इसके दृष्टान्त बहुत कम मिलेंगे।

श्री स्वामी जी ने अपने घर पर सवारी भी अन्तिम अवस्था में रक्खी थी। प्रतिष्ठित लोग उन्हें लेजाने को अपनी सवारी लाते थे, और गरीबों के घर वे पैदल जाते थे। युवावस्था ढलने से जब चलने में कष्ट होने लगा था तब उन्होंने पैदल घूमना छोड़ा था। एकबार जन्माष्टमी के व्रती होते हुये भी वे मेरे साथ सायंकाल करीब ढाई मील दूर एक रोगी को देखने पैदल गये थे-यह मुझे खूब याद है।

आंखों देखी बात है-उदयपुर राज्य में सिवाड़ एक बहुत बड़ा ठिकाना है वहां के सरदार भूतपूर्व ठाकुर साहब पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ। एक बहुत बड़े विदेशी डाक्टर साहब चिकित्सार्थ आये। डाक्टर साहब सिद्धान्त कर गये कि ठाकुर साहब ८-१० घण्टे से अधिक नहीं जी सकते। उसके अनन्तर श्री स्वामी जी की चिकित्सा आरम्भ हुई, और वे ठाकुर साहब करीब १० वर्ष जिये-इतना ही नहीं अपनी स्टेट का सब काम काज भी संभाला। किसी आडम्बर प्रिय मनुष्य के द्वारा ऐसा होजाता, तो देश में तहलका मच जाता, न मालूम

कितने पेपर्स व कितनी पुस्तकों में इसका जिक्र आता। किन्तु यहाँ जयपुर के इने-गिने घटना के जानकार व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी के कानों तक भी यह घटना नहीं पहुँची। इस प्रकार निराडम्बर रहते हुये भी श्री स्वामी जी अखिल भारतवर्ष में प्रसिद्ध हुये, असाधारण रूप से सम्मानित हुये, और इतनी संपत्ति के स्वामी भी हुये कि ढाई लाख का एककालिक दान कर सके-यह केवल गुणों की महिमा है।

महाकवि भारवि ने लिखा है—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः॥

इसका भी प्रत्यक्ष दृष्टान्त श्री स्वामी जी थे। उनमें बड़े बनने का अभियोग (क्रिया शीलता) था। उत्सुकता कभी नहीं थी। इसलिये दूसरे को धक्का मार कर अपनी उन्नति करना-यह उन्होंने जन्म भर में कभी नहीं किया। रोगियों को देखने में भी आदि से अन्त तक उनकी अक्षुण्ण प्रकृति रही कि जहाँ दूसरे वैद्य वा डाक्टर भी मौजूद हैं, और वे चिकित्सा में अधिक उत्सुक दिखाई देते हैं तो वहाँ पर तटस्थ हो जाते थे। उनकी हां में हां मिलाकर चले आते थे। औरों से संघर्ष कर अपनी चिकित्सा कभी नहीं जमाई। इससे आरम्भिक दशा में बहुत से लोग इन्हें स्फुरद्बुद्धि मानने में सन्देह करने लगे थे, किन्तु इन्हें इसकी कभी पर्वाह नहीं हुई।

इनकी प्रकृति जानने वाले जब 'आप ही पर हम निर्भर हैं' यह स्पष्ट सूचित कर देते, तब ये उसकी चिकित्सा में पूरा मन लगाते थे। मेरे ही घर की बहुत पुरानी घटना है, मेरी वृद्ध पितामही रोग ग्रस्त थी, उन्हें देखने श्री स्वामी जी पधारे थे। उनके सामने ही अकस्मात् मेरी चार पांच वर्ष की ज्येष्ठ पुत्री को अपस्मार के लक्षण प्रकट हुये। स्त्रियाँ पिशाच सम्बन्धी उपद्रव का अनुमान कर

पुकारने लगीं। श्री स्वामी जी ने एक बार इतना ही कहा कि 'रोग का बीज बहुत काल से गूढ़ रूप में संचित हो रहा था–ऐसा अनुमान होता है'। किन्तु जब मेरे पूज्य पिता जी आदि की प्रकृति एक यति जी को बुलाने की ओर देखी तो श्री स्वामी जी उसका अनुमोदन कर विदा हो गये। मैंने मार्ग में पूछा कि क्या आप इसे पैशाचिक उपद्रव ही मानते हैं, तब उन्होंने मुझसे कहा कि प्रधान वात रोग ही है, संभव है कुछ आगन्तुक दोष भी हों, उपाय दोनों ही करना। अन्ततः यति जी आये उन्होंने भी वात व्याधि ही स्थिर की, और उनकी औषधि से ही लड़की को लाभ हुआ। मेरे घर के लोग भी उस समय सब यही कहते थे कि स्वामी जी उस रोग को न समझ पाये, यति ने समझा। किन्तु मैं उनकी प्रकृति से परिचित था, और उनकी संमति सुन चुका था–इसलिये मुझे इनकी टीका टिप्पणी पर हँसी आती थी। यह दशा अन्त तक रही कि जहाँ किसी दूसरे चिकित्सक का प्रसङ्ग श्री स्वामी जी ने सुना–वहां उसका अनुमोदन ही किया। [उ]सका खण्डन कर अपनी बात जमाई–ऐसा कोई दृष्टान्त सुनने में नहीं आया। [ज]ब उनका प्रभाव सर्वविदित हो गया–तब उनके सामने स्वतः ही दूसरे चिकित्सक उनके अनुगामी बन जाते थे–यह दूसरी बात है, किन्तु उन्होंने कभी स्वतः अपने आपको संघर्ष में अग्रसर नहीं किया न कभी चिकित्सक की चिकित्सा की निन्दा उनके मुख से सुनी।

श्री स्वामी जी के असाधारण-गुणों और बाल्यकाल से ही उनकी विशेषताओं का विवरण, जीवन चरित में भली भांति हुआ है। आशा है पाठक सज्जन इससे लाभ उठावेंगे। और श्री स्वामी मंगल दास जी के परिश्रम को सफल करेंगे।

लेखक का यह कथन ठीक है कि मनुष्य कोटि में रहता हुआ कोई भी सर्वथा दोष शून्य नहीं रह सकता। कोई न कोई दुर्बलता का दोष भी हर एक में होना ही है। सर्वथा दोष शून्य भगवान् ही हैं। श्री स्वामी जी की एक दो

दुर्बलताओं का उनमें वर्णन भी किया है, 'दोषा वाच्या गुरोरपि' इस सिद्धान्त के अनुसार वह ठीक भी है। किन्तु मैं इसकी आवश्यकता नहीं समझता।

जीवन चरित आदर्श ग्रहण–वा शिक्षा ग्रहण के लिये लिखे जाते हैं, इसलिये सामान्य दोषों पर दृष्टि डालना– जीवन चरितों के लक्ष्य से बाहर है। हाँ, कोई उत्कट दोष किसी व्यक्ति में हो, और उसके कारण उसकी सफलता में बाधा हुई हो– तो उसका वर्णन शिक्षार्थ जीवनचरितों में आवश्यक होता है। साधारण दोष तो उपेक्षणीय ही रहने चाहियें।

अस्तु–आश्रयानुरूप अभी निष्पक्ष प्रवृत्ति दिखाने को मंगलदास जी ने ऐसा करदिया तो यह भी जीवन चरित को भूषण ही है। मैं पुनः ऐसे उपयोगी कार्य के लिये श्री स्वामी मंगलदास जी को बधाई और धन्यबाद देता हूँ, और पाठकों से इसके द्वारा लाभ उठाने का अनुरोध करता हूं।

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
महामहोपाध्याय
प्रिन्सिपल, महाराजा संस्कृत कालेज,
जयपुर।

मानव समुदाय का जो कुछ महत्त्व आज है या भविष्य में होगा वह ऐसे ही महान् पुरुषों के पुरुषार्थ का फल है। संसार का साहित्य, कला, विज्ञान, संगीत, स्थापत्य ये सब इन्हीं महापुरुषों की साधना का परिणाम है। अपने अकथनीय उद्योग तथा बुद्धिवैभव से न मालूम इन महान् पुरुषों ने हमको कितनी तरह के उपकरण प्रदान किये हैं जिन से हम अपनी महत्ता स्थापित करने की योग्यता प्राप्त किया करते हैं।

3 पेज चिपके हुए हैं स्पष्ट पढ़ें

लाभ मानव समाज के अखिल भाग में व्याप्त है।

भगवान् रामचन्द्र का मर्यादापूर्ण जीवन, भगवान् श्रीकृष्ण का महान् आदर्श समत्वयोग, बुद्ध का मानव प्रेम, ईशा की समत्व भावना, मुहम्मद का ईश्वर विश्वास किसी जाति विशेष को ही प्रेरणा दे यह बात नहीं। यदि उनके उन भावों, आदर्शों और विचारों को सम्यक् समझा जाय तो उन से प्रत्येक प्राणी को समुचित प्रेरणा उपलब्ध होगी।

मानव समुदाय का जो कुछ महत्त्व आज है या भविष्य में होगा वह ऐसे ही महान् पुरुषों के पुरुषार्थ का फल है। संसार का साहित्य, कला, विज्ञान, संगीत, स्थापत्य ये सब इन्हीं महापुरुषों की साधना का परिणाम है। अपने अकथनीय उद्योग तथा बुद्धिवैभव से न मालूम इन महान् पुरुषों ने हमको कितनी तरह के उपकरण प्रदान किये हैं जिन से हम अपनी महत्ता स्थापित करने की योग्यता प्राप्त किया करते हैं।

ये आदर्श महापुरुष किसी भाव विशेष में, किसी जाति या धर्मविशेष में अपने को आबद्ध समझते हों यह बात नहीं। वे किसी देश, जाति या धर्म में क्यों न उत्पन्न हुए हों उनका कार्य, उनका प्रयास, उनकी साधना अखिल संसार के हितार्थ ही हुआ करती है। इस बात के लिये किसी विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं। अद्यावधि होने वाले महापुरुषों का जीवन चरित्र ही इसका सबसे बडा प्रमाण है।

ये सब महापुरुष अखिल संसार की पूजा के पात्र होते हैं। इनके कार्यों से इनके विचारों से इनकी व्यावहारिक परिस्थितियों से मानव समाज प्रेरणा प्राप्त किया करता है।

संसार के धर्म संस्थापक, संसार के साहित्यिक, संसार के वैज्ञानिक संसार के कलाकारों ने जो जो कार्य किये हैं या कर रहे हैं उनका परिणाम किसी व्यक्ति विशेष के उपभोग की सामग्री नहीं, उनका हानि लाभ मानव समाज के अखिल भाग में व्याप्त है।

भगवान् रामचन्द्र का मर्यादापूर्ण जीवन, भगवान् श्रीकृष्ण का महान् आदर्श समत्वयोग, बुद्ध का मानव प्रेम, ईशा की समत्व भावना, मुहम्मद का ईश्वर विश्वास किसी जाति विशेष को ही प्रेरणा दे यह बात नहीं। यदि उनके उन भावों, आदर्शों और विचारों को सम्यक् समझा जाय तो उन से प्रत्येक प्राणी को समुचित प्रेरणा उपलब्ध होगी।

पतंजलि, कपिल, कणाद, व्यास, प्लेटो, अरस्तू-सुकरात हेकले, हर्बर्ट, स्पेन्सर, कीट्स, स्टुअर्टस, जेम्स, कालिदास, भवभूति, माघ, भारवि, बाण, सेक्सपीयर, गेटे, मनसूर, उमर खय्याम आदि की साधना क्या व्यक्ति विशेष या जाति विशेष की सम्पत्ति है ? उनकी वह दिव्य तथा सरस वाणी आज भी जाति धर्म से आगे प्रत्येक प्राणी को ज्ञान तथा आनन्द का एक रूप से उपभोग कराती है।

शङ्कर की अद्वैतसाधना, महावीर पारसनाथ की अहिंसा भावना, गोरख का अनहद नाद, कबीर का रहस्य वाद, दादू की निर्गुण उपासना व समत्वभावना, धर्म, जाति से ऊपर है। देश, काल से अवाधित हैं। उनका यह प्रयास सकल संसार की सम्पत्ति है। चाहे जो प्राणी उन के निर्मल वाक्यों से, नानाविध सन्तापों से सन्तप्त अपने हृदय को शीतल कर सकता है।

अजन्ता की गुफायें, मदुरा मीनाक्षी, रामेश्वर जगन्नाथ के मन्दिर, ताज का रोजा, जामा मस्जिद, हुमायू का मकबरा, सालामार बाग की कृतियें क्या किसी व्यक्ति विशेष की चीज हैं ? क्या धर्म विशेष का ही उसमें मसाला लगा है। नहीं वे मानवसमाज की वस्तुएं हैं। उनके निर्माता अपनी अपनी कलाविज्ञता के उपासक थे, वे जाति और धर्म के बन्धनों से मुक्त थे। उनकी कृतियें इसी लिये सार्वभौम वस्तु है। वह स्थापत्य शास्त्र की विभूति है, वह मानव के रचना चातुर्य का आदर्श है।

भीष्म, द्रोण, कर्ण, अर्जुन, भीम, दुर्योधन, हनुमान् , महान् सिकन्दर, मुहम्मद गोरी, नेपोलियन, टीपू प्रताप-इनका क्षात्र धर्म क्या किसी जाति धर्म से आवृत है ? इनका आदर्श त्याग, प्राणों की निर्ममता, लक्ष्यप्राप्ति की सिद्धि के लिये सर्वस्व परित्याग का उदाहरण प्रत्येक मनुष्य को एकबार प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता।

विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि महान् पुरुषों का आदर्श मानव जाति का गौरव है। उन्हीं के अनुकरण से न मालुम कितने प्राणी प्रेरणा उपलब्ध किया करते हैं। यही हेतु है कि महान् पुरुषों की जीवनियें प्रत्येक देश तथा जाति की एक विशिष्ट सम्पत्ति मानी जाती हैं। महापुरुषों की समाधियें, यादगार इसी लिये स्थापित की जाती है कि उनकी स्मृति से पीछे की पीढी के प्राणी प्रेरणा प्राप्त करते रहें। देश जातियों के इतिहास की महत्ता इन्हीं महापुरुषों के चरित्र तथा कृतियों पर आश्रित है। इन्ही ने मानव जाति की महानता को स्थापित किया। इन्ही से संसार का सौन्दर्य कायम हुआ। अतः ऐसी विभूतियों के जीवन को ध्यान से पढना तथा उनकी कृतियों को समझना सामान्य मानव समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

कहना असंगत नहीं होगा कि हमारे पूज्य गुरुचरण भी वर्तमान समय में अपने विषय की ऐसी ही एक महान् विभूति थे। उन का आदि से अन्त तक का जीवनक्रम जिन महानुभावों ने देखा है वे इसे स्वीकार किये विना नहीं रह सकते कि वस्तुतः उनकी जीवन शैली अद्भुत तथा आदरणीय थी। उन्हों ने अपने अध्यवसाय से जिस प्रकार अपने विवेक, विचार तथा वैभव का अभिवर्धन किया वह मननीय है। किस लघुतम स्थिति से उठकर वे उस महान उच्च स्थिति पर आसीन हुए यह जानने तथा अनुकरण करने की वस्तु है।

उनका संयमी जीवन, प्रखर विचार सरणी, निष्कपट सत्य व्यवहार, दृढ निश्चय, धर्म तथा ईश्वर में अनन्य श्रद्धा, शास्त्रीय ज्ञान, आयुर्वेद का तात्त्विक अनुशीलन, चिकित्सा पटुता, मितभाषण, क्षणिक कोप, पूर्ण वैराग्य, उदार दानवृत्ति आदि कितने ही गुण हैं जिनसे कि उनका देवोपम जीवन विभूषित हो रहा था।

उन्हीं आयुर्वेदसूर्य, साधुशिरोमणि, पीयूषपाणि, शास्त्रमर्मज्ञ, दीनबन्धु, भोगत्यागी, परमविरागी, भिषगाचार्य, वैद्यरत्न स्वामी श्री लक्ष्मीरामजी महाराज का यह सामान्य जीवन चरित्र आपकी सेवा में उपस्थित किया जाता है। ऐसे महान् पुरुषों के उदात्त जीवन का उल्लेख वस्तुतः कोई महान् विद्वान् तथा विज्ञ पुरुष ही कर सकता था। क्योंकि जीवन-चरित्र लिखने की योग्यता हर एक व्यक्ति में नहीं होती। जो व्यक्ति भाषा का पूर्ण विद्वान्, शास्त्रीय ज्ञान का ज्ञाता हो, जिसने चरित्र नायक का पर्याप्त काल तक समीप से पर्यवेक्षण किया हो वही व्यक्ति उत्तम चरित्र-चित्रण का अधिकारी है।

पूज्य गुरुचरणों के सान्निध्य में रहने वाले कई महान् विद्वान् ऐसे मौजूद हैं जिन में उपर्युक्त सभी बातें घटती हैं। यदि वे इस पर कलम उठावेंगे तो उनका जैसा दिव्य जीवन था वैसा ही दिव्य चरित्र भी हमारे सामने आ सकेगा अन्यथा मेरा यह लघु प्रयास तो अकिंचन-सा है। मेरे में उपर्युक्त बातों में से एक भी नहीं है। हाँ, केवल उनके चरणों का दीर्घकालिक सम्बन्ध मात्र है। भाषा की अज्ञता तथा शास्त्रीय ज्ञान का अभाव ये दोनों दोष मौजूद हैं। फिर भी मैंने इस कार्य का साहस अपनी श्रद्धा विशेष ही के कारण किया है। अतः विज्ञवर्ग इस की लेखन शैली की त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर उस महान् विभूति की कृतियों की ओर ध्यान देंगे जिन ने कि हम सब के सामने एक विशेष आदर्श उपस्थित किया है।

जन्मकाल व सम्प्रदायप्रवेश ।

पूज्याग्रणी श्री स्वामीजी महाराज का जन्म सम्वत् १६३० विक्रमी श्रावण कृष्णा ६ मंगलवार को रात्रि के करीब ११ बजे जयपुर से तीन कोश दक्षिण पश्चिम के कोणभाग में बसे हुए छोटे से ग्राम "मांग्यास" में हुआ था। इनके पिताजी का नाम भूरामलजी और माता का नाम स्वरूपा था। जाति गौड ब्राह्मण थी। इन के पिता के यजमान वृत्ति थी। मांग्यास के पास के दश बारह गावों के ये पुरोहित थे इसी वृत्ति से इनकी आजीविका का सम्यक् संचालन होता था। ये पवित्र कुल ब्राह्मण दम्पति ही इस महान् विभूति के आविर्भाव के आश्रय थे।

बाल्यावस्था ही से स्वामीजी महाराज की विलक्षणता प्रकट होगई थी। आप अन्य बालकों को तरह रोने धोने में व्यापृत नहीं रहते थे। आप की बाल लीला भी गाम्भीर्य गुण गुम्फित थी।

दिव्य कान्तिमय शान्त आनन और स्थिर दृष्टि इसबात के द्योतक थे कि यह सामान्य आत्मा नहीं है। इन का बाल्याकाल उसी ग्राम में माता पिता के घर सामान्य बालकों की तरह ही व्यतीत हुआ। तीन वर्ष की आयु होते ही आप पर्याप्त क्रियाशील होगये थे।

मांग्यास ग्राम जयपुर के अत्यधिक समीप है। ग्रामवासी प्रायः ही शहर नजदीक होने से चीज वस्तु के क्रय-विक्रय तथा मेला, उत्सव आदि के कारण शहर में आते रहते हैं।

स्वामीजी के माता पिता भी इसी तरह जयपुर में आते जाते थे। करीब पांच वर्ष की आयु होने पर स्वामीजी की माताजी इन्हें अपने क्रोड में ले जयपुर किसी उत्सव विशेष के अवसर पर आईं।

दैवयोग समझिये, जयपुर में छन्दःशास्त्र के विशिष्ट विद्वान्, आयुर्वेद के समुचित ज्ञाता, योग तथा अरिष्ट लक्षणों के विशेषज्ञ महात्मा

श्री चन्दनदासजी (चुन्नीलालजी) नथमलजी के घेर के पास उस स्थान में रहते थे जिसका कि अब स्वामीजी महाराज ने परिवर्तन कर दिया है, जिस में औषधालय की व्यवस्था है। उन्होंने आपको माता की गोद में देखा। उनकी अन्तरात्मा ने यह भाव प्रकट किया कि यह बालक सामान्य बालक नहीं है, यह कोई विशेष प्रतिभावान् पुरुष बनने वाला है। संभव है इसके द्वारा संसार की महान् सेवा हो। अतः इस को इस कार्य की ओर लगाना चाहिये। यह विचार कर उन्होंने आपकी माता से बच्चे को (बहल) में बैठा कर मेला दिखाने की बात कही। माताजी ने इनको चन्दनदासजी महाराज की (बहल) की सवारी में बैठा दिया। चन्दनदासजी इनको मेला दिखा कर अपने साथ ही अपने स्थान पर ले गये। माताजी भी इन्हें लेने उनके स्थान पर गयीं। माताजी के आने पर स्वामी चन्दनदासजी ने इस बालक को उन्हें ही दे देने का प्रस्ताव उपस्थित किया। माता यह बात सुन एकवार ही सकपका गई। चन्दनदासजी ने विविध उपदेशात्मक गाथायें सुनाकर माता के हृदय को परिवर्तित करने का प्रयास किया। इस तरह कथनोपकथन में तीन चार दिन का समय चला गया। अन्त में स्वामी चन्दनदासजी का प्रयत्न सफल हुआ और माताने उनके उपदेश को अंगीकार कर, अपने मातृ-स्नेह को अवरुद्ध कर बालक लच्छीराम (लक्ष्मीराम) उन को समर्पण कर दिया।

गुरु परिचय ।

स्वामी चन्दनदासजी दादूपन्थी सम्प्रदाय में काले डहरे के थांभे में स्वामी ध्यानदासजी के शिष्य थे । ध्यानदासजी स्वामी रामरतनजी के शिष्य स्वामी बुधरामजी के शिष्य थे । चन्दनदासजी नें बाल्यावस्था में गुरु सान्निध्य में संस्कृतभाषा की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी । व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदान्त के वे अच्छे ज्ञाता थे । छन्द शास्त्र तथा आयुर्वेद में विशेष नैपुण्य था । अरिष्ट ज्ञान तो उनका विशेष चमत्कारी था ही । छन्द शास्त्र का ज्ञान उनने वेदान्तशास्त्र के परम मान्य विद्वान् 'वृत्तिप्रभाकर", "विचारसागर" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों के रचयिता, पण्डित प्रवर स्वामी श्री निश्चलदासजी महाराज से प्राप्त किया था । निश्चलदासजी ने यह विद्या रसपुंजजी से प्राप्त की थी । रसपुंजजी बहुत विशिष्ट विद्वान तथा छन्द शास्त्र के अत्यन्त मर्मज्ञ थे । उन के निर्माण किये हुए दो ग्रन्थ पूज्य वैद्यजी महाराज के संग्रह में मौजूद हैं । महात्मा रसपुंजजी ने अन्तिम समय में काशी जाकर जल में खडे २ शरीर त्याग किया था । उन का संकल्प था कि कोई प्रतिभावान् योग्य अधिकारी उपलब्ध हो तो यह छन्द शास्त्र का उत्कृष्ट ज्ञान उसे बता दिया जाय । दैवात् स्वामी निश्चलदासजी का उन से साक्षात्कार होगया । रसपुंजजी इन की प्रतिभा देख परम प्रसन्न हुए उनने अपना अभीष्ट इनको बतलाया । स्वामी निश्चलदासजी ने इनकी आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य की । रसपुंजजी ने गंगा में खडे २ ही इनको सम्पूर्ण छन्द शास्त्र का मय पूर्ण प्रस्तार के श्रवण कराया । निश्चलदासजी ने भी पूर्ण तन्मयता से उसे उसी रूप में ग्रहण कर लिया ।

स्वामी निश्चलदासजी जब बूंदी से लौटते हुए जयपुर पधारे तब उन्हीं से स्वामी चन्दनदासजी ने छन्द शास्त्र का अध्ययन किया था । इस

शास्त्र में इनकी कितनी और कैसी योग्यता थी इसका निर्णय इन के बनाये "छन्दोविन्मण्डन" नामक ग्रन्थ से किया जा सकता है, जिसको कि पूज्य स्वर्गीय वैद्यजी महाराज ने मुद्रित कराया है।

छन्द शास्त्र की तरह ही इन का अरिष्ट ज्ञान भी विशेषतामय था। ये अरिष्ट लक्षण को देख जिस को जो कुछ कह देते थे वह प्रायः सत्य ही हुआ करता था। उनकी बताई हुई ऐसी अनेक घटनाओं की कहानियां जानकार व्यक्ति आज भी सुनाया करते हैं। ऐसी घटनाओं में एक विशेष घटना का उल्लेख करना अनुचित न होगा। यह घटना करीब सम्वत् १९३९ की है। उस समय महन्त जुगलदासजी महाराज के बाग में बुवानी के प्रसिद्ध सिद्ध योगिराज श्री रामस्वरूपजी निवास करते थे। वे वचनसिद्ध महात्मा थे। जयपुर के तत्कालीन सभी साधु उनके सत्सङ्ग के लिये आया जाया करते थे। स्वामी चन्दनदासजी का उन से विशेष सम्पर्क था। स्वामी चन्दनदासजी चिकित्सा का कार्य किया ही करते थे। घटना वाले दिन भी चिकित्सार्थ शहर में किसी गृहस्थ के लड़के को देखने के लिये गये थे। उस के लक्षणों को देख कर इनने घर वालों से कह दिया कि इसका शरीर रहना कठिन है। इन के देखजाने के बाद दैववशात योगिराज रामस्वरूपजी का भी उस गृहस्थ के घर आगमन हुआ। गृहस्थ ने लड़के की परिस्थिति दिखा कर उन से आशीर्बाद की प्रार्थना की। स्वामीजी ने उसको आशीर्वाद दिया और कहा कि कोई डरकी बात नहीं, लड़का ठीक होजायगा। गृहस्थ दुविधा में पडगया। उसने निवेदन किया कि स्वामी चन्दनदासजी तो कह गये है कि बचने की आशा नहीं। उन्हों ने यह सुनकर भी यह बात फिर दोहरादी। दोपहर में ये बात स्वामी चन्ददासजी को ज्ञात हुई। वे बहुत असमंजस में पडे कि स्वामीजी ने ऐसा कैसे कह दिया। अन्त में उन्हों ने यह निश्चय किया कि स्वामीजी की बुद्धि में भी भ्रान्ति हो गई है।

अतः अब उनके शरीर की भी अधिक दिन रहने की सम्भावना नहीं है। वे सायङ्काल बाग में गये महाराज रामस्वरूपजी के दर्शन किये। दोपहर वाली घटना का उल्लेख कर निवेदन किया कि आपने आज बिलकुल विपरीत बात का निर्देश किया है, इससे प्रतीत होता है कि आपके भी अरिष्टोदय होगया है। आपके शरीर की अधिक दिन रहने की स्थिति नहीं दिखाई देती।

स्वामी रामस्वरूपजी ने इनके कथन का कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया। चन्दनदासजी के कथनानुसार उस लडके का तथा स्वामी रामस्वरूपजी का, दोनों का ही शरीर अल्प काल में ही चला गया। यह घटना बिलकुल इसी रूप में घटी जिसके कई व्यक्ति जानकार थे। पूज्य गुरु चरणों ने भी इसका इसी रूप में वर्णन किया था। यह एक ही घटना इस बात के प्रमाण के लिये पर्याप्त है कि स्वामी चन्दनदासजी का अरिष्ट ज्ञान असाधारण था। उन्हों ने अपने इस ज्ञान से चिकित्सा क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की थी।

छन्दशास्त्र की विशेषज्ञता के कारण जयपुर के तत्कालीन कई विद्वानों ने इन से छन्दशास्त्र का अध्ययन किया था। जिन में दाधीच गोपीनाथजी तथा मणिमालाकार महाकवि भट्ट श्री कृष्णरामजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त स्वामी चन्दनदासजी संगीत का भी अच्छा परिचय रखते थे। उन्हों ने चिकित्सा के अध्यवसाय से अपना कार्य संचालन किया। वर्तमान "लक्ष्मीरामोद्यान" इन्हीं ने आरंभ किया था। बाग की जमीन, बाग का आगे का भाग एक कूआ, तथा पुराना महल यह सब उन्हीं के प्रयास का फल था। बाग के निर्माण में उन्हें कुछ रुपये औरों से भी लेने पडे थे। इन्हीं विविधगुण सम्पन्न स्वामी श्री चन्दनदासजी का शिष्यत्व पूज्य गुरुचरणों को उपलब्ध हुआ था। संवत् १९३५ में गुरुचरण इनके सान्निध्य में आये थे।

माता के चले जाने पर बालक लच्छीराम (लक्ष्मीराम) ने किसी तरह का विचार नहीं किया। स्वामी चन्दनदासजी के पास माता पिता की तरह ही रहने लगे। दो वर्ष का समय इसी तरह लालन पालन में समाप्त हुआ। अपने पास रखने पर जब उन्हें अपने निर्णय का पूरा औचित्य ज्ञात होगया तब सात वर्ष की आयु में उनने बालक (लक्ष्मी-राम) को सम्प्रदाय-प्रथाऽनुसार दीक्षा दे अपना शिष्य बना लिया।

अध्ययन

दीक्षा देने के पश्चात् आरम्भ में अध्ययन का कार्य "गणेशजी" मूतनीवालों ने आरम्भ किया। उन्हीं से स्वामीजी सारस्वत पढा करते थे। स्वामी चन्दनदासजी को अपनी आयु का भी कुछ २ आभास हो गया था। उन्होंने कुछ विचार से ही स्वामीजी को शिष्य बनाया था। अपनी आयु का समाप्ति काल समीप देख उन्होंने इस बातका भी प्रवन्ध करना उचित समझा जिस से आगे झंझट न हो।

साधुओं की प्रणाली के अनुसार स्थान में जो सब से बडा शिष्य होता है वही गुरु का उत्तराधिकारी और स्थान का स्वामी होता है। स्वामी चन्दनदासजी के वैद्यजी महाराज से अतिरिक्त दो शिष्य पहले के और थे। परंतु उनका यही संकल्प था कि उनके उत्तराधिकारी वैद्यजी ही बनें। अतः उन्होंने जीते ही साधुओं की प्रथा के अनुसार साधुओं को एकत्रित कर यह निर्धारित कर दिया कि मेरा उत्तराधिकारी लक्ष्मीराम ही है। मेरे पहले के दोनों शिष्य हैं उनमें से किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाना चाहता। उत्तराधिकारी का प्रश्न पूरा कर साथ ही उन्होंने वैद्यजी महाराज की देख रेख के लिये अपने सहयोगी स्वामी गोरधनदासजी को निरीक्षक नियुक्त कर दिया। इस तरह भावी कार्य पूरा होजाने पर कुछ समय बाद ही संवत् १६४० की बैशाख कृष्णा ३ को उनका शरीर ब्रह्मलीन होगया।

असमय में उनका देहावसान होजाने के कारण वैद्यजी महाराजको पूरा धक्का लगा पर वे अपने काम को और भी तत्परता से करने लगे। प्रथानुसार स्वामी चन्दनदासजी का शरीरोर्ध्वसंस्कार समाप्त कर गोरधनजी ने स्वामीजी के अध्यापन के लिये पण्डित विजयचन्द्रजी को

नियुक्त किया। बारह वर्ष की आयु तक इस तरह घर पर ही आपका अध्ययन कार्य चलता रहा।

सारस्वत चन्द्रिका तथा रघुवंश आदि का अध्ययन समाप्त कर तेरह वर्ष की आयु में आप वैद्यवर पं० गंगाबक्सजी व्यास के यहाँ आयुर्वेदाध्ययन के लिये जाने लगे। दो वर्ष तक उनके यहां लघुत्रयी के ग्रन्थों का अध्ययन किया। व्यासजी के माधवलालजी नाम के एक सुपुत्र थे। वे स्वामीजी के समवयस्क ही थे। अध्ययनार्थ निरन्तर जाने का काम रहने से उनके साथ स्वामीजी का बन्धुत्वभाव होगया। उन्हीं के संसर्ग से १५ पन्द्रहवर्ष की आयु में संवत् १९४५ में स्वामीजी ने राजकीय संस्कृत कालेज के प्रवेशिका विभाग में प्रवेश किया।

आपकी बुद्धि की तीव्रता, पदार्थ की ग्रहणशक्ति तथा सदाचार मय परमविनयान्वित आचरण ने कालेज के योग्य अध्यापकों का ध्यान आप की ओर आकर्षित कर लिया। विद्वानों की यह इच्छा होने लगी कि प्रवेशिका उत्तीर्ण कर स्वामीजी हमारे पास अध्ययन करें तो बहुत ही अच्छा हो।

उस समय प्रवेशिका विभाग में व्याकरण की दोनों पद्धतियां प्रचलित थीं–सारस्वत चन्द्रिका तथा लघुकौमुदी। स्वामीजी सारस्वत चन्द्रिका वाले विभाग में प्रविष्ट हुए। दो वर्ष में प्रवेशिका के सम्पूर्ण ग्रन्थ सम्यक् अध्ययन कर प्रवेशिका परीक्षा दी और उस में उत्तम रूप से सफलता प्राप्त की।

प्रवेशिका उत्तीर्ण होने का मालूम होते ही विद्वन्मण्डली ने स्वामीजी को अपने अपने विषय की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास किया। पर अन्त में आपने भट्ट श्री कृष्णरामजी के निर्देश को स्वीकार किया। भट्ट जी महाराज ने स्वामीजी से यह भी कहा कि हमारे ऊपर स्वामी श्री

चन्दनदासजी का गुरुऋण है सो तुम उस ऋण को चूकता करलो। मतलब-भट्टजी ने स्वामी चन्दनदासजी से छन्दशास्त्र का अध्ययन किया था उसी का निर्देश उन्हों ने स्वामीजी से किया। स्वामीजी १७ सतरह वर्ष की आयु में आयुर्वेदोपाध्याय कक्षा में प्रविष्ट हुये। दूसरे वर्ष उपाध्याय परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। कलकत्ते के कविराज विजयरत्न सेन परीक्षक थे। वे वैद्यजी के उत्तरों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने यहां से सटीक वाग्भट की पुस्तक इनको पारितोषिक देने के लिये भेजी।

आपकी प्रतिभा का चमत्कार यहीं से प्रारम्भ होगया। उस समय के कालेज के अध्यक्ष बाबू हरिदासजी शास्त्री ने उपर्युक्त पुस्तक कालेज के सम्पूर्ण विभाग की सभा का आयोजन कर सम्मान पूर्वक स्वामीजी को समर्पित की।

उस समय आयुर्वेद की कक्षा में नियम से पढने वाले छात्र थे ही नहीं। व्याकरण, न्याय, साहित्य, ज्योतिष आदि में कई प्रतिभावान् छात्र थे। स्वामीजी के कारण आयुर्वेद की कक्षा का भी कुछ महत्त्व बढा। उपाध्याय के परिणाम में परीक्षक महोदय के पारितोषिक से इस में और भी विशेषता आगई।

स्वामीजी का उज्ज्वल भविष्य देख कुछ विद्वान पुरुषों ने तथा जातीय भद्र पुरुषों ने यह विचार किया कि इनका यज्ञोपवीत संस्कार कर पुनः गार्हस्थ्य में लाया जाय, इसके लिये कई व्यक्तियों ने कथनोपकथन द्वारा पर्याप्त चेष्टा की किन्तु स्वामीजी ने गार्हस्थ्य में लोटने की सर्वथा अनिच्छा प्रकटकी। अतः इस प्रयास का यँही अन्त होगया।

स्वामीजी को प्रमाणपत्र देने के लिये ही कालेज का विशेष उपाधि वितरणोत्सव हुआ। उसका सभापतित्व उस समय के राज्य के प्रधान

सचिव बाबू कान्तिचन्द्रजी ने किया। उन्हीं के हाथ से स्वामीजी को उपाध्याय का प्रमाणपत्र प्राप्त हुआ।

उपाध्याय परीक्षा पास कर आपने भिषग्वर में प्रवेस किया। भट्ट जी महाराज ने पूर्ण परिश्रम से अध्यापन का कार्य किया। योग्य शिष्य प्राप्त होने पर गुरुका हृदय कितना उल्लसित हो जाता है वह बात अनुभवी महानुभाव ही समझ सकते हैं। स्वामीजी ने पूर्ण मनोनियोग के साथ आयुर्वेदीय ग्रन्थों को हृदयङ्गम किया। "भिषग्वर" में अध्ययन करते हुए ही स्वामीजी अपनी कक्षा के सहपाठियों को तथा पीछे के छात्रों को अध्यापन भी कराया करते थे। जो पाठ वे एकबार सुन लेते थे उसको अपने शब्दों में और भी उत्कृष्ट बना उसी समय दूसरों को बताया करते थे। दो वर्ष 'भिषग्वर' में अध्ययन कर संवत् १६५० में "भिषग्वर" की परीक्षा दी। उपाध्याय की तरह ही इसमें भी ससम्मान सफलता प्राप्त की।

परीक्षा देने के बाद भट्टजी महाराज ने बाल्मीकिरामायण का अनुष्ठान कराया। अनुष्ठान समाप्ति पर संस्कृत कालेज के सम्पूर्ण विद्वान् तथा छात्रों को भोजन कराया। पण्डितवर्ग को एक एक रुपया भेट भी दी। उसी पण्डितमण्डली में—

"अश्रौषीद् यः सटीकं दुरधिगमतया सुश्रुतं सुश्रुत यत्
चक्रव्याख्यानबक्रामलभत चतुरंचारकीयांचिकित्साम्।
यो हेमाद्रिप्रतीपाशयमिह घटते वाग्भटाब्धि तरीतुम्
लक्ष्मीरामाय तस्मै बुधपरिषददात् वैद्यवर्यप्रशस्तिम्॥"

यह श्लोक पढ़कर अपने प्रिय शिष्य का सम्मान प्रदर्शित किया। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि भट्टजी स्वामीजी जैसा शिष्य पाकर

कितने संतुष्ट थे। स्वकीय पुत्रों पर उनका ऐसा स्नेह नहीं था जैसा इनपर था।

"भिषग्वर" परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आपने "भिषगाचार्य" कक्षा में प्रवेष किया। उस समय वैद्यक की शास्त्री श्रेणी ही थी। आचार्य श्रेणी स्वामीजी के कारण ही स्थापित की गई और उस कक्षा में एकमात्र प्रथम छात्र आपही हुये।

भिषग्वर कक्षा में ही आयुर्वेद के सब ग्रन्थ भट्टजी महाराज ने अच्छी तरह अध्यापन करा दिये थे। अतः आचार्य कक्षा में आने पर वैद्यक के साथ साथ काव्य, साहित्य, नाटक का अध्यापन भी भट्टजी ने आरम्भ कर दिया। साहित्य दर्पण, काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों का समुचित अध्ययन स्वामीजी ने भट्टजी से किया था।

धर्मशास्त्र का अध्ययन परम प्रकाण्ड मैथिल पण्डित जीवनाथजी गुरु से किया। मिताक्षरा सहित याग्यवल्क्यस्मृति आपने इन्हीं से पढी। इस तरह 'भिषगाचार्य' में आयुर्वेद के साथ २ धर्मशास्त्र, काव्य, साहित्य आदि विषयों का भी आपने अच्छा अध्ययन कर लिया।

संयोगवश उस समय व्याकरण के उद्भट विद्वान् दादूपन्थी महात्मा श्री महानन्दजी महाराज जयपुर पधारे थे। सांख्यतत्त्वकौमुदी का अध्ययन आपने इनसे किया। इस तरह भिषगाचार्य श्रेणी में आपने न केवल आयुर्वेद का आचार्यत्व प्राप्त किया प्रत्युत शास्त्रान्तरों का भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर अन्वर्थ "आचार्य" संज्ञाकी उपलब्धि की। भिषगाचार्य परीक्षा दे संवत् १६५२ में आप वास्तविक आचार्य बन गये।

परीक्षा फल प्रकाशित होने से पहले ही भट्टजी ने एक पद्य बनाया और स्वामीजी से कहा कि शकुन अच्छे हैं, तुम अवश्य सफलता प्राप्त

करोगे। परीक्षाफल, जैसा भट्टजी ने निर्देश किया वैसा ही आया। भट्टजी ने परिणाम सुन अत्यन्त हर्ष प्रकट किया। एक पत्र कविराज विजयरत्न सेनजी के पास भेजा जिस में वह पद्य भी लिखा जो चतुर्थ चरण बदल कर "सिद्ध भैषज्य मणिमाला" की प्रति गुच्छ की टिप्पणी के अन्त में भट्टजी महाराज के आग्रह से रक्खा गया है। वह पद्य यह है–

य: प्राचां भिषजां विवेद महितास्तिस्रोऽपिता: संहिता:
साहित्यं च सधर्मशास्त्रमभित: स्वच्छन्दवाक् छन्दसि।
लक्ष्मीरामसुधी: स एष भिषगाचार्यप्रशस्तिं वहन्
अद्यास्माभिरुदुत्सवेन मनसा ख्यातिं परां लम्भित:॥

सिद्ध भैषज्य मणिमाला में परिबर्तित चतुर्थ चरण यह है—

"व्याचष्ट प्रथमं गुलच्छमलं भैषज्यरत्नस्रज:॥"

स्वामीजी का छात्र जीवन अत्यन्त प्रशंसनीय रहा। आप छात्रावस्था में जिस प्रकार रहते थे वैसा आदर्श बहुत कम उपलब्ध होता है। छात्रावस्था में कभी कोई कार्य आपने नियम विरुद्ध नहीं किया। गुरुजनों में सविनय आदरभाव छात्रों के साथ सौहार्द, अध्ययनातिरिक्त और किसी भी व्यापार में व्यापृत न रहना, कभी अनुपस्थित न होना, अध्ययनकाल तथा तद्भिन्न काल में कभी व्यर्थ बात न करना, शील और सचाई का दृढता से पालन करना, सादा वेषभूषा, निर्मल चरित्र, विनीत स्वभाव मृदु, मधुर तथा स्वल्प भाषण ये सब आपकी विशिष्टतायें थीं। उनका दैनिक कार्यक्रम और अध्यवसाय ही इसके द्योतक थे कि आप महान् व्यक्ति हैं तथा होंगे। आप मेधावी तथा प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे यह बात छात्रावस्था में प्रकट हो गयी थी। इसका एक उदाहरण तो ऊपर आ ही गया है। एक उदाहरण और उपस्थित करना असंगत नहीं होगा।

जयपुर राजकीय पण्डित सभा के अध्यक्ष, वेदों के अद्वितीय ज्ञाता, शास्त्रीय विषयों के मार्मिक विद्वान् तथा दार्शनिक विषयों के अद्भुत अर्थज्ञ पण्डित प्रवर श्री मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति को कौन नहीं जानता होगा। आप जयपुर के ही नहीं, भारतवर्ष के वेद-मर्मज्ञ विद्वानों में विशेष स्थान रखते थे। आपके समक्ष एक बार संस्कृतकालेज की चर्चा चलने पर स्वामीजी का भी नाम आया। उस समय स्वामीजी भिषग्वर श्रेणी में अध्ययन करते थे। पण्डितजी महाराज ने दो प्रश्न—एक आयुर्वेद विषय का और दूसरा धर्मशास्त्र विषय का—लिख कर भेजा, और उनका उत्तर मांगा। वे प्रश्न ये हैं—

(१) "शुक्र प्रायः क्षरणशील द्रव धातु है। इसका अवरोध शरीर में प्रबल प्रयत्न से भी होना कठिन है, तो बताइये शास्त्रों में बाल्यावस्था से सम्पूर्ण आयु तक के ब्रह्मचारी का विवरण किया गया वह कैसे संगत है ?"

(२) "शास्त्रों में पुरुषों को पुनर्विवाह का निर्देश दिया गया है किन्तु स्त्रियों को नहीं इसका क्या मर्म है ?"

पहले प्रश्न का उत्तर यह है—

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं १ ऊर्ध्वरेता, २ अधोरेता, और ३ तिर्यग्रेता। इनमें जो ऊर्ध्वरेता पुरुष होते हैं उनके शुक्रकी गति ऊर्ध्व होती है। इनके शुक्रका परिणाम मनके रूप में होता है। इसलिये ये मननशील बुद्धिविज्ञान सम्पन्न विशिष्ट पुरुष होते हैं।"

"जो पुरुष तिर्यग्रेता होते हैं उनके शुक्र की गति सम्पूर्ण शरीरगामी होती है। उनके शुक्र का परिणाम ओज के रूप में होता है। ये व्यक्ति शूरवीर तथा तेजस्वी होते हैं।"

"जो पुरुष अवाग्रेता होते हैं उनके शुक्र की अधोगति होती है। इनके शुक्र का अवरोध होने पर शुक्र-क्षरण होने लगता है जिस से शुक्र क्षयजन्य प्रमेहादि कई रोग उत्पन्न होजाते हैं।"

"इस से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो पुरुष ऊर्ध्वरेता होते हैं वे ही आबाल तथा आजीवन ब्रह्मचर्य वाले होते हैं। उन्हीं को शास्त्रों में नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रतिपादन किया है।"

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है—

"पुरुषों की कामोत्पत्ति का हेतु शुक्र है जो अन्तिम धातु है। स्त्रियों की कामोत्पत्ति का हेतु आर्तव है जो तीसरा धातु है।"

'प्रकृति का यह सामान्य नियम है कि किसी भी वस्तु को आगे से रोका जाय तो वह पीछे की ओर लौटेगी या प्रत्याघात करेगी। ऊपर जो त्रिविधरेता पुरुष बतलाये हैं उनमें ऊर्ध्वरेता और तिर्यग्रेता पुरुषका शुक्र अवरुद्ध होने पर मन तथा ओज रूप में परिवर्तित होकर मानव-शरीर का विशेष भाग बन जायगा। इसलिये उनको कोई क्षति नहीं होती। किन्तु अवाग्रेता पुरुष के शुक्र की अधोगति रहती है। उसका अवरोध होने से वह शरीर से बाहर हुए बिना नहीं रहता। ऐसा होने से शरीर में नाना प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होजाती है। त्रिविध पुरुषों में इसी श्रेणी के पुरुष अधिक होते हैं, पहिले की दो श्रेणियों के कम, अतः शास्त्रकारों ने अधोरेता पुरुषों के लिये ही पुनर्विवाह का विधान किया है। स्त्रियों के कामोत्पादक आर्तब तीसरा धातु है। उस से आगे चार धातु और हैं। उसका अवरोध होने पर वह मांस आदि धातुओं के रूप में परिबर्तित हो जाता है। इसी से स्त्रियों को पुनर्विवाह की आवश्यकता नहीं।"

प्रश्नों के उत्तर शास्त्रीय विषय सहित कितने युक्तियुक्त हैं यह उत्तरों से ही प्रतीत होजाता है। उत्तर पाकर पण्डितजी बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना यह आशय प्रकट किया—

"मैं स्वामीजी के शास्त्रानुमोदित, युक्तियुक्त उत्तर पाकर अत्यन्त सन्तुष्ट हूं। आकांक्षा करता हूं कि इन महानुभाव की प्रतिभा का और भी अधिक अभ्युदय हो।"

कविराज विजयरत्न सेनजी का पारितोषिकरूप में पुस्तक भेजना, ओझाजी का उपर्युक्त अभिप्राय अभिव्यक्त करना ही इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि स्वामीजी बाल्यावस्था से ही अत्यन्त चमत्कारी बुद्धिवाले थे।

स्वामीजी ने सातवें वर्ष में अक्षराभ्यास शुरू किया था। आठ वर्ष यानी पन्द्रहवें वर्ष तक वे अपने घर पर तथा व्यासजी के घर पर शिक्षा पाते रहे। पन्द्रहवें वर्ष से २२ बाईसवें वर्ष तक आठ वर्ष संस्कृतकालेज में शिक्षा पाई। अक्षराभ्यास से आचार्य तक १६ सोलह वर्ष का समय वैद्यजी का शिक्षा-काल है।

संस्कृत कालेज की स्थापना के बाद आप ही उसके सबसे पहिले आचार्य निकले। कालेज की स्थापना को ५० पचास वर्ष से ऊपर समय होगया। इतने समय में इस शिक्षालय से न मालूम भिन्न भिन्न विषयों के कितने आचार्य निकलगये किन्तु स्वामीजी की समानता करने वाला एक भी दृष्टिगोचर या श्रुतिगोचर नहीं हुआ।

इसतरह स्वामीजी ने अपनी छात्रावस्था बड़े सम्मान तथा सफलता के साथ समाप्त की जिसका कि प्रत्येक छात्रको अनुकरण करना चाहिये। विद्वान् तथा मर्मज्ञ बनने के लिये साधना की जरूरत है। उसके लिये विनय, सचाई, शील, कर्मण्यता, गुरुभक्ति, छात्रप्रेम, अल्प-

भाषण, दृढ-निश्चय आदि गुणों की आवश्यकता है। स्वामीजी ने पहिले अपने को इन्हीं गुणों से अन्वित किया, पश्चात् वह साधना जिस से कि वे इस कोटि पर पहुंचे तथा भविष्य में भी चिरस्मरणीय बने रहेंगे। आपका छात्र जीवन व अध्यापन काल आपके अनुरूप ही पूरा हुआ।

अध्यापन

स्वामीजी का अध्यापनकाल भी अध्ययनकाल की तरह बहुत प्रभावोत्पादक तथा यशस्वी रहा। स्वामीजी वैसे तो प्रवेशिका श्रेणी में अध्ययन करने के समय ही से अध्यापन का काम करने लग गये थे। पर भिषक् परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद तो आपने नियमित रूप ही से अध्यापन-कार्य आरंभ कर दिया था। भिषगाचार्य कक्षा में एकमात्र आपही अध्ययन करने वाले थे। उपाध्याय तथा भिषग्वर में जितने विद्यार्थी थे उनको आप ही भट्टजी के समक्ष अध्यापन कराते थे। संवत् १६५० से आप का अध्यापनकाल प्रारम्भ होता है जिसका अन्त संवत् १६६० में हुआ।

आचार्यपरीक्षा उत्तीर्ण होने के कुछ समय बाद ही

संवत् १६५२ के प्रारम्भ में आपने आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की और संवत् १६५४ में कवि चक्रवर्त्ती भट्ट श्री कृष्णरामजी का निर्वाण हो गया। भट्टजी ने आयुर्वेदाध्ययन के समय प्रतिज्ञा की थी कि आयुर्वेदका कोई भी विषय तुमसे अज्ञात नहीं रखूंगा। वह प्रतिज्ञा पूरी नहीं होने पाई। ग्रन्थाध्ययन का कार्य तो तदनुरूप सम्पन्न होगया। पर कर्माभ्यास का काम बिलकुल बाकी था। भट्टजी औषधनिर्माणक्रिया में भी अत्यन्त कुशल थे। वे आयुर्वेद की रस-क्रिया के बहुत विशेषज्ञ थे। वह सब कर्माभ्यास का उन का विशिष्टज्ञान उनके साथ ही चला गया। इस आसामयिक गुरु-बियोग से स्वामीजी के भावुक हृदय पर बहुत तीव्र आघात लगा। किन्तु क्या किया जा सकता था, इसके प्रतिकार का न कोई उपाय था और न किसी के साध्य स्वामीजी भग्न

हृदय से आयुर्वेद-सेवा के काम में लगे। भट्टजी का देहावसान होने से कालेज में आयुर्वेदाध्यापक का स्थान रिक्त होगया। स्वामीजी के अतिरिक्त और कोई योग्य व्यक्ति था नहीं अतः उस समय के शिक्षाविभागाध्यक्ष महोदय बाबू श्री कालीपद बनर्जी ने विना प्रार्थना-पत्र लिये ही अपनी ओर से स्वामीजी का नाम राजकीय सभा (कौन्सिल) में भट्टजी के स्थान में नियुक्ति के लिये भेज दिया। वहां से स्वीकृति आने पर स्वामीजी के पास सहसा नियुक्ति का समाचार पहुंचा।

संवत् १९५४ में स्वामीजी आयुर्वेदाध्यापन के प्रधानपद पर नियुक्त हुए। उसी समय आयुर्वेद की दो कक्षायें की गईं। एक उपाध्याय और एक शास्त्री-आचार्य। उपाध्याय कक्षा के अध्यापक पद पर भट्टजीमहाराज के सुपुत्र विद्वद्वर भट्ट श्री गंगाधरजी शास्त्री नियुक्त हुए। शास्त्री–आचार्य कक्षायें स्वामीजी के अध्यापकत्व में रहीं।

तब से आरम्भ किया यह शिक्षा–यज्ञ स्वामीजी ने पदत्याग तक जारी रक्खा। ३६ वर्ष तक अनवरत इस पवित्र कार्य को ऐसी तत्परता से सम्पादन किया कि जिसकी समानता के उदाहरण बहुत कम सामने आते हैं।

स्वामीजी ने अध्यापन का कार्य आयुर्वेद की सेवा-भावना से स्वीकृत किया था। आप का यह अध्यापन-कार्य आजीविका के निमित्त नहीं था। आपका ध्यान और लक्ष्य आयुर्वेद पढ चुकनेपर यही होगया कि आयुर्वेदका प्रचार तथा प्रसार अधिक से अधिक होना इस देशके लिये आवश्यक है। आयुर्वेदके जो ग्रन्थ उस समय उपलब्ध थे वे परिपूर्ण नहीं थे इसी से अध्ययन समय में स्वामीजी को पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ा था। आयुर्वेद की जो पुस्तकें उस समय तक मुद्रित हुईथीं वे बहुत अशुद्ध थीं। उन ग्रन्थों का आशय पा लेना वैसे ही कठिन था फिर पाठ की अशुद्धि,

किसी उत्तम टीका की अनुपलब्धि—इन से पठन-पाठन का काम पर्याप्त कष्ट साध्य था। चरक पढते समय तो स्वामीजी को और भी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। भट्टजी ने स्वयं अपने हाथों पाठ की शुद्धि व टिप्पणी की थी। स्वामीजी ने प्रयास कर पाठ का संशोधन किया। अध्यापन का काम रहने से यह कार्य स्वतः ही उत्तम रूप से सम्पादित होगया।

स्वामीजी की अध्यापन-शैली वैशिष्ट्यपूर्ण थी। आप को सब ग्रन्थ हस्तामलकवत् थे। चरक का सूत्र स्थान पढा रहे हैं वाग्भट तथा सुश्रुत के सूत्रस्थान में उसी विषय का कुछ भिन्न विवरण हो तो वहीं उसको अभिव्यक्त कर देते थे। पाठ के भावार्थ का विशदीकरण इस रूप से करते थे कि छात्रों के सामने विषय का चित्र-सा खिंच जाता था। आप का अध्यापन इतनी तन्मयता से होता था कि उस समय और किसी बात का ध्यान नहीं रहता था। पढाने के समय आप जिन जिन विशेष मन्तव्यों को अभिव्यक्त करते थे वैसे बिना पाठ के पूछने पर कभी ऐसी बातें व्यक्त नहीं करते थे। आपके पाठ का विशेष प्रवाह होता था। जिस तरह गाड़ी की गति धीरे धीरे तेज होती है उसी तरह आपके पाठ का क्रम धीरे धीरे तीव्र होता जाता था। चिकित्सा शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों पर आपका विवेचन अधिकार पूर्ण होता था। ग्रन्थ का मर्म कहीं अनभिव्यक्त नहीं रहने पाता था। आप जब अध्यापन कराते होते तो कालेज में आये हुए महानुभाव उस पाठ को सुने बिना नहीं रह सकते थे। बर बश उनका ध्यान उस ओर आकृष्ट होजाता था। कभी २ कालेज के इतर बिभाग के अध्यापक महोदय भी इस रस के आस्वादन में संलग्न होजाते थे।

उस समय भारतवर्ष में नियमित अध्यापन का कार्य कहीं आरम्भ हुआ हो तो शायद दूर प्रदेशों में ही हुआ हो। पंजाब, यू.पी., गुजरात,

मालवा, राजपूताना इन प्रान्तों में तो सर्वप्रथम जयपुर ही में आयुर्वेद की शिक्षा का यह क्रम प्रारम्भ हुआ था। थोडे ही समय में स्वामीजी के अध्यापन की ख्याति दूर दूर होने लगी। स्वामीजी के पास बंगाल, पंजाब, गुजरात आदि प्रदेशों से विद्यार्थी अध्ययनार्थ एकत्रित होने लगे।

स्वामीजी आयुर्वेद के लिये और कुछ भी कार्य न करते तो उनका यह अध्यापन कार्य ही इतना महत्त्वप्रद था कि जिससे आयुर्वेद संसार में आपका वैशिष्ट्य चिरकाल तक माना जाता। अध्यापन के इस काम से स्वामीजी को बहुत आर्थिक हानि भी उठानी पडी, पर आपने अपने संकल्प में कमजोरी नहीं आने दी। अध्ययन की समाप्ति से पहले ही स्वामीजी ने चिकित्सा का काम आरम्भ कर दिया था। कालान्तर में तो चिकित्सा-विषयक इतनी ख्याति स्वामीजी की हो गई थी कि भारतवर्ष के अग्रगण्य चिकित्सकों में आपका स्थान था।

चिकित्सा की इस स्थिति में कालेज का सर्वदा प्रातःकाल होना प्रबल प्रतिबन्धक था। प्रातःकाल ही रोगनिरीक्षण का समय था। सैंकडों रोगी प्रतिदिन चिकित्सार्थ आते थे। यह सब होते हुए भी आप अध्यापन के कार्य से विरत नहीं हुए। आगे जाकर चिकित्सार्थ बाहर बुलाने की फीस प्रतिदिन की ५००) से १०००) तक थी उस समय भी आप आवश्यक छुट्टी लेकर कहीं बाहर नहीं जाते थे। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि आपका इस विषय में कितना उच्च तथा आदर्श लक्ष्य था।

जो कुछ वेतन उस समय आपका था उसका आर्थिक दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं था। कारण-स्वामीजी की दैनिक आय ही उस से न मालूम कितनी गुणा अधिक थी। पर आपने इस हानिलाभ का कभी खयाल नहीं किया।

स्वामीजी यदि अध्यापन का काम न कर कलकत्ता, बम्बई जैसे स्थान में चिकित्सार्थ कार्य करते तो आर्थिक लाभ बहुतही अधिक होता। पर यहां तो उद्देश्य ही भिन्न था। आयुर्वेद की प्रतिष्ठा तथा सेवा ही आपका जीवन-लक्ष्य था। इसी उद्देश्य सिद्धि के लिये आपने बीस वर्ष की आयु से साठ वर्ष की आयु तक इस वाङ्मय तपको अक्षुण्ण बनाये रक्खा।

स्वामीजी के कार्यकाल में अनेक प्रकार के प्रलोभन आये पर आपने अपना ध्यान अपने लक्ष्य से किंचित् भी च्युत नहीं होने दिया। सैंकडों शिष्यों को आयुर्वेद का सम्यक् ज्ञान प्रदान कर आयुर्वेद सेवकों की संख्या वृद्धि का कार्य अनवरत जारी रक्खा।

इस समय शायद ही भारतवर्ष का कोई प्रदेश हो जिसमें स्वामीजी के शिष्यों में से अध्यापन या चिकित्साकार्य में कोईन कोई लगा हुआ न हो। यू० पी० मालवा, पंजाब, राजपूताना, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र सभी प्रदेशों में स्वामीजी के शिष्य प्रशिष्यों की पर्याप्त संख्या है। यू. पी., पंजाब, राजपूताने के तो अधिकांश औषधालय तथा आयुर्वेद विद्यालय स्वामीजी के ही शिष्यों द्वारा संचालित हो रहे हैं। और उनमें से अधिकांश व्यक्ति अपने २ कार्य में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त हैं।

यदि स्वामीजी अपने जीवन का इतना बडा भाग इस कार्य में न लगाते तो आज आयुर्वेद की यह स्थिति होती या नहीं यह कहना कठिन है। आयुर्वेद शिक्षा के प्रसार में वैद्य जगत् में स्वामीजी का सर्वप्रथम स्थान है। उन के द्वारा परम्परा रूप से आयुर्वेद शिक्षा-प्रसार में जितनी सहायता पहुंची है उतनी किसी भी महान् से महान् वैद्य द्वारा नहीं पहुंची यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण न समझा जाय।

अध्यापन काल में स्वामीजी का रिकार्ड इतना उत्तम है कि वैसा किसी कार्यकर्त्ता का मिलना कठिन है। आपने अपना कार्य इतने सुचारु रूपसे तथा नियमबद्ध किया कि किसी भी शिक्षाविभाग के अधिकारी को तद्विषयक हस्तक्षेप करने की कभी आवश्यकता ही नहीं हुई।

साठवर्ष की आयु होने पर आपने अध्यापन कार्य का परित्याग कर दिया। अधिकारि-वर्ग ने बहुत कुछ कथनोपकथन किया कि कुछ समय और कार्य किया जाय। हम शिष्यवर्गों ने भी बहुत प्रार्थना की कि कुछ समय और हमारा कल्याण साधन किया जाय। पर जो कुछ निश्चय आप कर चुके थे उसका परिवर्तन असम्भव रहा। सबका निरोध, विनय, आग्रह देख सुन कर भी आपने अपने ही निश्चय को कायम रक्खा।

जब यह निश्चय हो ही गया कि स्वामीजी अब कार्य नहीं करेंगे तब राजकीय शिक्षाविभाग द्वारा आपका बडी धूम धाम के साथ अभिनन्दन किया गया। इस प्रकार का अभिनन्दन शायद ही किसी शिक्षक का आज तक हुआ हो। आगे भी हो, इस में संशय ही है। शिक्षाविभाग के सब अधिकारी उसमें सम्मिलित थे। नगर के और भी गण्य मान्य पुरुष एकत्रित हुए थे। संस्कृतकालेज की ओर से अभिनन्दन समर्पित किया था। इसतरह जिस सम्मान तथा गौरव के साथ आपने अध्यापन का कार्य आरम्भ किया था उससे अनेक गुणा अधिक सम्मान तथा गौरव के साथ उस को समाप्त किया।

स्वामीजी का ध्यान आरंभ से ही इस ओर था कि आयुर्वेद की शिक्षा के साथ साथ कर्माभ्यास भी अवश्य होना चाहिये। जो कुछ ऊपरी उपकरण इस समय चिकित्सा क्षेत्र में नवीन नवीन काम में आने लगे हैं, वैद्यलोग उस से भी वंचित न रहें। पर इसे कार्य की पूर्ति राजकीय सहायता तथा स्वीकृति पर निर्भर थी। आपने अधिकारियों तक

इस कमी को पहुंचाया। संवत १९७६ व ७७ में आपने राजकीय हस्पताल के प्रधान डाक्टर दलजंगसिंहजी एम. बी. से इस कमी की चर्चा की। डाक्टर साहब ने बडी प्रसन्नता से आपकी बात सुनी तथा सम्मति दी कि हम लोग आयुर्वेद के छात्रों को सर्जरी आदि की मुफ्त शिक्षा देंगे। शव-परीक्षा आदि का प्रत्यक्षीकरण भी हो सकेगा। आपकी प्रोत्साहन भरी इस सम्मति से स्वामीजी के संकल्प को और भी बल मिला और पुनः विचार विनिमय के बाद परतानियों के मन्दिर में डाक्टरों द्वारा सर्जरी, फारमाकोपिया, मिडविफ्री, एनोटमी आदि का शिक्षण आरंभ हो गया। नम्बर से अपने २ विषय के विशेषज्ञ डाक्टर आकर भाषण दिया करते थे। शवच्छेद के भी अवसर आये, पर आयुर्वेद पढने वाले छात्र अधिकांश अंग्रेजी से अपरिचित थे, पारिभाषिक शब्द थे वे सब अंग्रेजी के थे। इसलिये पढने वालों तथा पढाने वालों को दोनों को कठिनाई अनुभव होने लगी। सात आठ मास काम चला पर आगे उत्साह हीनता से काम बन्द होगया। स्वामीजी पुनः अपने संकल्प की पूर्ति के विचार में लगे। अन्त में राज्याधिकारियों द्वारा आयुर्वेद विभाग के लिये कुछ अधिक मंजूरी कराई गई और आयुर्वेद-विभाग में प्रेक्टिकल का नियमित शिक्षण आरंभ हुआ।

इसका कोर्श भी तैयार किया गया। पढाई में 'हमारे शरीर की रचना' 'प्रसूतिशास्त्र' 'व्याधिविज्ञान' 'सूचोवेध चिकित्सा' आदि पुस्तकों का समावेश किया गया। एक डाक्टर अध्यापक नियुक्त हुए जो कि एनोटमी तथा मिडविफ्री की शिक्षा देते हैं। साथही रक्त-परीक्षा, फुफ्फुस-परीक्षा, मूत्र-परीक्षा आदि का ज्ञान भी कराया जाने लगा। इन्हीं के साथ साथ औषधि परिचय, रोग परिचय, औषध निर्माण की व्यवस्था की गई। औषधि-परिचय के लिये 'धन्वन्तरि फार्मेसी-विभाग' में औषधिसंग्रह किया गया। रोग-परिचर्या का काम 'धन्वन्तरि औषधा-

लय' के 'आतुरालय' में सिखाया जाने लगा। औषधनिर्माण का काम स्वतन्त्र एक वैद्य के तत्त्वावधान में कालेज में कराया जाने लगा।

चातुर्मास्य में या शरद्‌ऋतु में औषधि-परिचय के लिये छात्रों की यात्रा भी आवश्यक रक्खी गयी। इस तरह आयुर्वेद शिक्षा में आधुनिक उपकरणों का सम्बन्ध जोड़ अभिवृद्धि की गई।

यह कार्य सर्व प्रथम यहीं जयपुर में आयुर्वेद विभाग में आरम्भ हुआ। यह कहा जाय कि इस प्रकार स्वामीजी ने शिक्षा क्रम में संशोधन कर इस ओर प्रवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों का ध्यान इस कमी की ओर सर्वप्रथम आकृष्ट किया तो असंगत नहीं।

आयुर्वेद विद्यालयों में प्रायः इसके पश्चात् ही शिक्षा-क्रम में परिवर्तन हुआ है। हिन्दू-विश्व विद्यालय, ऋषिकुल आदि में जो इस प्रकार की शिक्षा का आयोजन है उसका मूलस्रोत जयपुर ही है। इस तरह स्वामीजी ने आयुर्वेद शिक्षा में आयुर्वेद का पूर्ण महत्त्व रखते हुए भी कर्माभ्यास तथा आधुनिक उपकरणों का समावेश कर भावी वैद्यों के लिये बहुत ही प्रशस्त पथ तैयार कर दिया। जयपुर राजकीय कालेज के आयुर्वेद विभाग में यही क्रम प्रचलित है और आशा है कि इस की और भी अभिवृद्धि होती रहेगी।

इस प्रकार चालीस वर्ष तक आयुर्वेद की अत्यधिक सेवा कर साठ वर्ष की आयु में स्वामीजी ने अध्यापन कार्य से छुट्टी पाई।

चिकित्साक्रम व चिकित्साप्रसार

स्वामीजी के गुरु स्वामी चन्दनदासजी का देहावसान चालीस वर्ष की आयु में ही होगया था। मृत्यु से कुछसमय पहिले उन्होंने एक बगीचा बनवाया था जो कि इस समय "लक्ष्मीरामोद्यान" है। वे अपना काम चिकित्सावृत्ति से चलाया करते थे। उस समय इस वृत्ति से आज कल की तरह आय नहीं हुआ करती थी। उनकी उस आय से घरका सब खर्च चल जाता था। बगीचा बनवाने में अपने पास कुछ संचित अर्थ था वह तो सब लग ही गया। कुछ और व्यक्तियों से लेकर भी लगाना पड़ा। बागका काम वे पूरा कर गये पर इस से आर्थिक स्थिति कुछ दब सी गयी। उनका सहसा शरीर शान्त होगया। स्वामीजी उस समय दसही वर्ष के थे। स्थान में और कोई आजीबिका थी ही नहीं। गुरुजी के पास जो कुछ था वह लगही चुका था। कुछ कर्ज बाकी रह गयाथा। स्वामीजी के संरक्षक गोरधनदासजी ने स्वामीजी की नाबालगी में काम को उसी तरह जारी रक्खा जैसा कि स्वामी चन्दनदासजी के समय था।

स्वामीजी की आयु बढ़ती गयी वैसे ही आपको अपने स्थान की स्थिति का बोध होता गया। भिषग्वर परीक्षा होने के बाद से ही आपने चिकित्सा का काम आरम्भ कर दिया। स्थान में परम्परा से चिकित्सा का काम हुआ करता था अतः काम आरम्भ होने में कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ी। आचार्य का अध्ययन और प्रातःकाल चिकित्सा का काम। आचार्य परीक्षा देने के पश्चात् चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। आयुर्वेद का ज्ञान और प्रतिभा तो थी ही। प्रत्येक काम को ध्यान से करना यह स्वामीजी की विशेषता थी। इस से थोड़े ही समय में आपका चिकित्सा का काम चालू होगया। घर पर तो अनेकों रोगी आया ही करते थे। अब रोगी अपने घर भी आप को

बुलाने लगे। प्रारम्भ में १) एक रुपया फ़ीस का था, वह बढ़कर आगे १०००) एक हज़ार तक होगया था। बीमार देखने के लिये दूर दूर तक जाना पड़ता था। कभी कभी दूर जाने का काम होता और सवारी नहीं होती तो भी आप पैदल ही रोगी को देखने को चले जाते थे।

शरीर स्वामीजी का आरम्भ से ही बहुत कोमल था, पर आपड़ने पर कठोर काम करने में भी आप दिक्कत नहीं मानते थे। संवत् १९५७ में जयपुर में बड़े जोर का हैजा चला। स्वामीजी ने उस समय बड़ी तत्परता से काम किया। अपनी आरामदारी और शारीरिक कष्ट को भुलाकर दिन-रात रोगियों को देखने तथा औषधि आदि से उन की जीवन रक्षाका ही ध्यान रक्खा। उसी व्याधि के दौरान में आपके परम मित्र व्यास माधवलालजी का देहावसान होगया जिस से आपको बहुत दुःख हुआ, फिर भी सामयिक परिस्थिति को देख आपने अपनी कर्त्तव्यपूर्ति में कमी नहीं आने दी। स्वामीजी की चिकित्सा प्रणाली का महत्त्व इसी अवसर से आरम्भ हुआ जो आगे विवर्धित होता ही गया। उस समय की चिकित्सा-शैली कैसी थी वह विज्ञ जनों से छिपी नहीं। क्वाथ, चूर्ण गोली का ही मुख्य प्रचार था, विशेषतः क्वाथ का वह भी रोगी को लिखवा दिया जाता था। कोई विशेष दवा देनी होती तो पास से देदी जाती थी। अब की तरह भैषज्यभण्डार या औषधालय वैद्यों के पास नहीं होते थे। दस बीस तरह की गोली, कुछ चूर्ण, पांच सात रसौषधि, सार, अभ्रक, बंग इतनी सी ही उन की फार्मेसी होती थी।

वसन्त मालती, हेमगर्भ पोटली, मृगांक, चन्द्रोदय आदि तो किन्हीं राजवैद्यों के यहां उपलब्ध हो सकते थे। रोगी को अधिकांशतः पंसारी तथा अत्तारों के ही आश्रय पर रहना पड़ता था। वैद्य भी प्रायः योगचिन्तामणि, वैद्यविनोद, शारङ्गधर के योगों को व्यवहार में लाया करते

थे। साधारण वैद्य अमृतसागर से भी काम निकाला करते थे। घृत, तैल, अवलेह, आसव अरिष्ट आदि का प्रयोग व बहुत कम होता था। स्वामीजी ने चिकित्साशैली में परिवर्तन करना आरम्भ किया। आपने बंगाल की तरह चिकित्सा में घृत, तैल, आसव, अरिष्ट आदि के प्रयोगों को काम में लेना आरम्भ किया। स्वकीय औषधालय में धीरे धीरे औषधियों की अभिवृद्धि आरम्भ की। चिकित्सा में दो तीन समय औषधि देना और विभिन्न रूप की औषध देना–यह क्रम आप ही का आरम्भ किया हुआ है। राजपूताने में चिकित्सा–क्रम बहुत सामान्य रूप का था। आनन्दभैरव, कुचीले की गोली, अमर सुन्दरी, घोड़ा चोली बटुए में रहती थीं। यही वैद्यजी का औषधबक्स था। उस में आमूल चूल परिवर्तन का एकमात्र श्रेय स्वामीजी को ही है।

आपने आरम्भ से ही शास्त्रीय औषधियों का प्रयोग करने का निश्चय कर लिया था। उसका अन्त तक पूरा निर्वाह किया। स्वामीजी ने कभी चिकित्सा में प्राइवेट नुसख़ों का उपयोग नहीं किया। आपके औषधालय में यावन्मात्र औषध आयुर्वेदीय ग्रन्थों की ही रहती थी, और रहती हैं। आपकी चिकित्सा-शैली भी सर्वथा शास्त्रीय थी। रोगों की चिकित्सा पूर्णतया चरक के क्रम से ही करते थे।

आपका निदानज्ञान विलक्षण था। आप रोग के हेतु की तह तक पहुंच जाते थे। बीमार अपनी तकलीफ का ज्योंही वर्णन आरंभ करता कि आपकी विचार-दृष्टि तुरन्त उसके कथन से पहले उस बात तक पहुंच जाती थी। आप जब तक निदान का ठीक निर्णय नहीं कर लेते थे तब तक इलाज आरंभ नहीं करते थे। रोगी को एक दो औषध आरम्भ कर आश्वासन दे देते थे और आप उसके रोग-हेतु का निर्णय करने में प्रयत्नशील रहते थे। जबतक रोग के हेतु को यथार्थ-रूप में न

समझ लिया जाता तब तक आपको सन्तोष नहीं होता था यही कारण है कि आपकी चिकित्सा प्रायः सभी अवस्थाओं में सफल होती थी। ऐसे मौके शायद ही आते कि जिनमें आपको कुछ न कुछ सफलता न मिलती। कई वार ऐसे मौके आये हैं कि डाक्टरों ने किसी बीमार के लिये आपरेशन के सिवाय और कोई उपाय शेष नहीं माना पर आपने उस बीमारी के बिना आपरेशन के ही ठीक होने की सम्मति दी और वही ठीक प्रमाणित हुई।

इसका एक उदाहरण आपके सामने रखना उचित होगा। जयपुर निवासी श्रीमान् पंडित दुर्गाप्रसादजी आयुर्वेदाचार्य के एक पैर की अंगुली में कोई व्रण होगया। धीरे २ व्रण विवर्धित होता गया। उसकी इस प्रकार वृद्धि देख उन्होंने डाक्टरी इलाज कराना आरम्भ किया। वे अस्पताल ही के कमरे में आ रहे। वहां भी उपचार अनुकूल नहीं पड़ा। डाक्टरों ने विशेषरूप से जांच पड़ताल कर अन्त में यह निर्णय किया कि इस व्रण ने तो क्षतज़ विसर्प (ट्रांमटिक परिसपेलस) का रूप धारण कर लिया है। अतः इस अंगुली का आपरेशन करने ही से शायद ठीक हो। पशोपेश में दो दिन और निकल गये। आखिर डाक्टरों ने यही निश्चय कर कहा कि आपको इसका आपरेशन कराना होगा अन्यथा इसका विष जैसे २ आगे फैलेगा वैसे ही वैसे शरीर का वह भाग विकृत होता जायगा। अभी तो थोड़ा सा ही काम है। दो तीन दिन का विलम्ब हो जायगा तो फिर सारा पैर कटवाना पड़ेगा। वैद्यजी बड़े असमंजस में पड़े। दैववशात् स्वामीजी उस समय बीकानेर गये हुये थे। पण्डितजी ने स्वामीजी को दिखाये बिना आपरेशन कराना उचित नहीं समझा। मालूम करने से ज्ञात हुआ कि स्वामीजी महाराज कल बीकानेर से आने वाले हैं। यह जान कर उन्होंने यही निश्चय रक्खा कि स्वामीजी को दिखा उनकी सम्मति ले फिर कुछ करेंगे। दूसरे दिन स्वामीजी आगये। आते ही आपने अस्पताल में पण्डितजी की स्थिति देखी। डाक्टर भी मौजूद थे। आपने डाक्टरों से यही

फिर कुछ करेंगे। दूसरे दिन स्वामीजी आगये। आते ही आपने अस्पताल में पण्डितजी की स्थिति देखी। डाक्टर भी मौजूद थे। आपने डाक्टरों से यही कहा कि आप आपरेशन न कर वैसे ही इलाज करें, ये ठीक हो जायेंगे। अन्त में वैसा ही हुआ। उनका व्रण बिना आपरेशन के बिल्कुल ठीक होगया। वे आज भी मौजूद हैं और मौजूद है उनका पैर जिसका मूलोच्छेद होने को था। यह घटना इतनी स्पष्टता के साथ इस बात को प्रमाणित करती है कि स्वामीजी का निदान-ज्ञान कितना यथार्थ होता था। चिकित्सा का आधार रोग-हेतु ही है। जबतक वैद्य इस विषय में निपुण न हो तब तक वह विशिष्ट वैद्य नहीं बन सकता। रोग-ज्ञान में स्वामीजी का ऐसा ही अभिमत था।

आयुर्वैदिक सिद्धान्त से चिकित्सा के तीन रूप हैं—१ दोष प्रत्यनीक चिकित्सा, २ व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा और ३ उभय प्रत्यनीक चिकित्सा स्वामीजी ने उभय प्रत्यनीक चिकित्सा को ही अपना लक्ष्य बनाया था। आप रोग के हेतु तथा रोग दोनों के निवारण का उपाय किया करते थे। यह नियम तो नहीं था कि आप केवल दोष प्रत्यनीक या केवल व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा करते ही नहीं थे। समय-समय पर जहां दोष या रोग का ही पूर्ण प्राधान्य रहता वहां आप तदनुरूप चिकित्सा किया करते थे, पर अधिकांश व्याधियों में उभय प्रत्यनीक चिकित्सा का ही क्रम संचालित होता था।

आपकी चिकित्सा की एक और विशेषता थी कि आप प्रतिरोधी चिकित्सा नहीं किया करते थे। किसी बात को विपरीत गुण धर्म वाली वस्तु से दबा दिया जाय—इसको आप उचित नहीं समझते थे। आप दोषापहरण तथा दोषदमन के साथ-साथ दोषानुबन्ध भी न रहने दिया जाय—इसी को पूर्ण चिकित्सा मानते थे। इसी से आपकी चिकित्सा में

समय कुछ लम्बा लगा करता था पर उसका विशेष फल भी था। केवल दोष विपरीत चिकित्सा से तत्काल तो वह दोष दब जाता है परन्तु उसका सर्वांश में मूलोच्छेद नहीं होता, मिथ्या आहार विहार का थोड़ा सा सहारा मिलते ही पुनः रोगोत्पत्ति कर देता है। अतः दोष तथा दोषानुबन्ध का क्षय कर देना ही पूरी चिकित्सा है स्वामीजी ऐसा ही किया करते थे। रोग निवृत्त-सा हो जाने पर भी आप महीने दो महीने पुनः भेषज का प्रयोग कराया करते थे। चिकित्सा में यह उनकी अपनी विशेषता थी।

चिकित्सार्थ स्थानान्तरगमन

धीरे धीरे स्वामीजी की ख्याति व्याप्त होने लगी। दूर दूर से लोग आपको आमन्त्रित करने लगे। रोगी दूर दूर से चिकित्सा के लिये आने लगे। राजपूताने में जयपुर का स्वामीजी के कारण विशेष स्थान होगया। स्वामीजी को अध्यापन कार्यवश बहुत कम समय मिलता था। नियमोल्लंघन कर जाना आप पसन्द नहीं करते थे। फिर भी चिकित्सार्थ आपको बहुत दूर दूर तक जाना पड़ा था उनमें कुछेक स्थान ये हैं।

खंडेला, मलसीसर, डूंडलोद, सीकर, सिवाड़, नवलगढ़, मंडावा, जोबनेर पिलानी, चुरू, रतनगढ़, सुजानगढ़, सांभर, बीकानेर, किशनगढ़, अजमेर, ब्यावर, आबू, देवली, शाहपुरा, पीपला कोटा, बून्दी, उदयपुर, इन्दौर, ग्वालियर, अहमदाबाद, बम्बई, भिवानी, पानीपत, अमृतसर लाहोर, मथुरा आगरा, हाथरस, देहली, खुर्जा, फर्रुखाबाद, बरेली, प्रयाग।

उपर्युक्त स्थानों में प्रायः सेठ तथा सरदारों के ही लिये जाना हुआ। कई राज्यों में भी आप चिकित्सार्थ पधारे थे। जैसे-बीकानेर, ग्वालियर, किसनगढ़, बूंदी, पन्ना, सिरोही, दरभंगा, भरतपुर। प्रायः सभी जगह आपको सफलता प्राप्त हुई। महाराजा बीकानेर के यहां तो जबसे आप जाने लगे तब से अन्त तक चिकित्सा का काम आप ही करते रहे। वर्ष में कई बार आपको बीकानेर पधारना ही पड़ता था। महाराजा बीकानेर का आप में पूरा विश्वास था। बून्दी में महाराजा रघुवीरसिंहजी तथा राणीजो की चिकित्सा आप ही ने की। माजी साहब की रोगनिवृत्ति आपही की चिकित्सा से हुई। जयपुर महाराज की चिकित्सा में तो आपको करीब सात मास तक कार्य करना पड़ा था।

राजपूताने के प्रसिद्ध धनी मानी सेठ साहूकारों के कई परिवार प्रायः आपही से चिकित्सा कराया करते थे। अजमेर के लोढा, सोनी, बीकानेर के महता, ढड्ढा, पिलानी के विड़ला, नवलगढ के भगत, चूरु के बागला आदि के नाम इनमें अग्रणी हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि स्वामीजी का चिकित्साकार्य बहुत ही उच्च श्रेणी का था। अन्त के वर्षों में जब कि आपने बाहर आना जाना प्रायः बन्द-सा कर दिया था उस समय बाहर के बीमारों का जयपुर में जमघट-सा लगा रहता था।

आधुनिक समय में अब अन्य चिकित्साप्रणालियों का महत्त्व राजकीय सहायता तथा नित्य नूतन अनुसन्धानादि से दिन दिन बढता जाता है। ऐसे संघर्ष के समय में आयुर्वेद चिकित्सा का इस प्रकार महत्त्व स्थापित करना यह सामान्य कार्य नहीं है। पर स्वामीजी ने अपने विशुद्ध ज्ञान तथा दृढ़ लगन से ऐसा करके दिखा दिया।

सैंकड़ों ऐसे बीमार जो अनेक स्थानों पर अच्छे २ चिकित्सकों से चिकित्सा करा कर स्वास्थ्यलाभ नहीं कर पाते थे वे स्वामीजी की शरण में आ सफ़ल मनोरथ होते थे।

स्वामीजी ने आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली को बहुत कुछ आगे बढ़ाया इसमें किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है।

आज भी अनेक स्थानों पर स्वामीजी का शिष्यसमुदाय उसी प्रणाली का अनुसरण कर स्वामीजी के उस प्रयास को सुरक्षित रखते हुए आयुर्वेद की सेवा द्वारा यश तथा सम्मान की प्राप्ति करता है। स्वामीजी का यह काम आयुर्वेद प्रचार में बहुत ही सहायक हुआ है। आपके अतुल व्यक्तित्व ने आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली में जान सी डाल

दी है। यद्यपि स्वामीजी आज नहीं हैं फिरभी आपके प्रयास का परिणाम अब भी वैसा का वैसा मौजूद है।

इस तरह स्वामीजी ने अध्यापन तथा चिकित्सा द्वारा आयुर्वेद की अत्यन्त सेवा की। उभय कामों में आपका विशेष स्थान था। आप के स्वर्गारोहण से आयुर्वैदिक चिकित्सा प्रणाली को पूरा धक्का लगा है। पूरी आशा है-भगवान् स्वामीजी के शिष्यों द्वारा इस क्षति का परिमार्जन करायेंगे।

राजसम्मान व विशेषोपाधिप्राप्ति

स्वामीजी का आयुर्वेदाध्ययन के समय से ही यह निश्चय था कि इस में कर्माभ्यास की भी पूरी आवश्यकता है। बिना कर्माभ्यास के पूरा वैद्य नहीं बन सकता। जयपुर में इसकी व्यवस्था रही नहीं। कारण, भट्टजी महाराज ने ही इस कार्य का आश्वासन दिया था। उनका शरीर रहा नहीं। अतः स्थानान्तर ही में यह कार्य पूरा हो सकता था। आप का ध्यान इस के लिये बंगाल की ओर जाता था। दैवयोग से वह समय आगया और आप संवत् १९५६ की पौष शुक्ला ९ नवमी मङ्गलवार को बंगाल की आयुर्वैदिक चिकित्सा प्रणाली का अध्ययन करने के लिये कलकत्ते रवाना होगये। कलकत्ते में आप उस समय के प्रख्यातनामा कविराज द्वारकानाथ सेनजी के यहाँ ठहरे। इनसे आप का परिचय विष्णुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा हुआ था। ब्रह्मचारीजी ने कविराजजी से आयुर्वेद का अध्ययन किया था। पर वहां घरवालों का प्रतिबन्ध विशेष होने से कलकत्ता छोड वे यहां जयपुर में आगये थे। यहीं पर उनने शेष रहे आयुर्वेद का स्वामीजी से अध्ययन किया और भिषगाचार्य परीक्षा पास की। उन्हीं के द्वारा स्वामीजी ने कविराजजी से पत्रव्यवहार कर निर्णय कर लिया था तदनुसार कलकत्ते जाकर आपने मनोयोगपूर्वक वहां की शैली का अध्ययन आरम्भ किया।

कविराजजी ने बड़े स्नेह तथा तत्परता के साथ अपनी चिकित्सा शैली का सम्पूर्ण रूप व्यवहारतः आपको समझाया। कविराजजी प्रत्येक बीमार की स्थिति स्वामीजी को दिखाया करते थे। दैवयोग से वहां माघ के महीने में प्लेग (महामारी) का प्रकोप आरंभ होगया। कविराजजी के स्वकीय स्थान में ही कई छात्रों का देहावसान होगया। जयपुर में लोगों को कलकत्ते की बीमारी के समाचार मालूम होते ही

यहांसे तकाजे पर तकाजा स्वामीजी को बुलाने के लिये होने लगा। स्वामीजी चैत्र कृष्णपक्ष में वहां से बनारस के लिये रवाना हो गये।

कविराजजी स्वामीजी की प्रतिभा तथा ग्रहणशक्ति देख कर बहुत ही संतुष्ट हुए और आने के समय अपनी ओर से एक प्रशंसापत्र तथा "वैद्यरत्न" पदवी प्रदान की।

वहां से आप बनारस आये। बनारस में उस समय चरक की टीका "जल्पकल्पतरु" के निर्माता ख्यातनामा कविराज गंगाधरजी के परम शिष्य कविराज परेशनाथजी रहते थे। वे आयुर्वेद तथा योग के गम्भीर ज्ञाता थे। आपने उनसे साक्षात्कार किया। बातचीत से कविराजजी बहुत प्रभावित हुए। स्वामीजी की प्रतिभा देख उनको अपार हर्ष हुआ उन्हों ने प्रसन्न हो योगका एक विशिष्ट प्राणायाम सिखाया। "जल्पकल्पतरु" की एक पुस्तक जो कि उस समय दुष्प्राप्य ही थी–दी तथा एक प्रमाणपत्र भी प्रदान किया।

यहीं अकस्मात् आप विसूचिका से पीड़ित हो गये। बड़े प्रयत्न से आप इस व्याधि से मुक्त हुए। जयपुर से गोरधनदासजी बनारस आये और उनके साथ आप वैशाख में जयपुर लौटे। यहीं से आप के सम्मान का प्रारंभ हुआ।

शिक्षित महानुभावों को ज्ञात ही होगा कि भारतीय समस्त वैद्यों की एक "आयुर्वेद महामण्डल" नाम की प्रमुख संस्था है। कलकत्ते के वैद्यसम्मेलन में आप का सभापति पद से दिया गया भाषण सुन कर वैद्यसमाज चकित होगया। स्वामीजी का आयुर्वेद-ज्ञान कितना गंभीर है इस का आभास लोगों को उसी भाषण से हुआ था। महामण्डल के सम्माननीय सदस्य उस भाषण को पढ अत्यन्त हर्षित और प्रभावित हुए। उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझा कि इस महान् विभूति को महा-

मण्डल द्वारा भी सम्मानित किया जाना आवश्यक है। अतः उन्होंने बहुमान पुरस्सर महामण्डल की ओर से स्वामीजी को 'आयुर्वेद-मार्तण्ड' की पदवी समर्पित की।

बम्बई में ' प्रभुराम आयुर्वैदिक कालेज" एक विशिष्ट संस्था है। इस का संचालन वैद्य, डाक्टर तथा सम्माननीय व्यक्तियों की एक कमेटी द्वारा होता है। यह कमेटी भी अपना विशेष महत्त्व रखती है। स्वामीजी का शास्त्रीय ज्ञान तथा चिकित्साऽनुभव का वैशिष्ट्य देख इस कमेटी ने भी अपनी ओर से आप का सम्मान करना आवश्यक समझा। तदनुसार इसने पूज्य स्वामीजी को 'प्राणाचार्य' पदवी से विभूषित किया। अभिनन्दन तथा प्रशंसापत्रों का तो कहना ही क्या। इतने अभिनन्दन तथा प्रशंसा-पत्र हैं कि उनका उल्लेख कर लेख का कलेवर बढाना उचित नहीं।

आयुर्वेदीय संस्थाओं की तरह दो राज्यों की ओर से भी स्वामीजी का विशेष सम्मान किया गया। पहला सम्मान बूंदी-नरेश द्वारा हुआ। बूंदी-नरेश की राजमाता का स्वामीजी ने इलाज किया था। स्वास्थ्य लाभ करने के बाद माताजी ने एक मन्दिर बनवाया। उसकी प्रतिष्ठा बड़ी धूम धाम से की गयी। उस समय स्वामीजी को विशेष अतिथि के रूप में बुलाया गया। तीन चार दिन वहां आपको बड़े आदर के साथ रक्खा और अन्तिम दिन चरणों में सुवर्ण भेंट तथा शिरोपाव आदि से (जो कि राजसम्मान के मुख्य अंग माने जाते हैं) सम्मानित किया।

द्वितीय राजसम्मान जयपुर-नरेश श्री माधवसिंहजी महाराज द्वारा हुआ। स्वामीजी की महान् योग्यता का पता जब जयपुर-महाराजा को लगा तो वे बड़े प्रसन्न हुए। वे स्वामीजी से जयपुर की शोभा मानते थे। अपने नागरिक के इस वैशिष्ट्य को वे अपनी राजधानी का वैशि-

ष्ठ्य समझते थे । उन्होंने भी राज्य की ओर से स्वामीजी का उचित सम्मान करना उचित समझा और दरबार में स्वामीजी की कुरसी नियुक्त कर आप का सम्मान किया। राज्य की ओर से पहले के राज्यवैद्यों को गांव आदि मिले हुए हैं पर इस तरह का सम्मान आज तक किसी भी वैद्य को प्राप्त नहीं हुआ था। स्वामीजी को यह सम्मान प्रदान कर स्वर्गीय श्री महाराज ने अपनी गुणग्राहकता प्रदर्शित की।

इस तरह स्वामीजी ने अपने उद्योग तथा अध्यवसाय से राज्य तथा जनसमाज दोनों से उचित सम्मान प्राप्त किया। ये सब सम्मान बिलकुल अयाचित थे। सामान्यतः अधिकांश लोग सम्मान प्राप्ति के लिये नानाप्रकार के प्रयास किया करते हैं। पर स्वामीजी इस के सर्वथा विपरीत थे आप सम्मान से बचना चाहते थे । आप अधिकांशतः ऐसे अवसरों का प्रत्याख्यान कर देते थे जहाँ कि आप का विशेष सम्मान सम्भावित होता। यदि आप अन्य सामान्य व्यक्तियों की तरह सम्मान की इच्छा करते तो न मालूम और कितनी ही ओर से तथा कितने रूपों से आपको सम्मान प्राप्त होते। उपर्युक्त सम्मानों की सब घटनायें अनायास तथा सम्मानकर्ता व्यक्तियों के ही विशेष आग्रह से घटित हुई थी।

रचना व पत्रव्यवहार

स्वामी जी साहित्य रचना भी बहुत उत्तम किया करते थे। आपने वैसे कोई खास रचना का काम तो नहीं किया पर जब कभी कुछ कविता आदि बनाने का अवसर आया तो उत्तम ही रचना की। स्वामीजी की गद्यरचना का उदाहरण आपका वैद्यसम्मेलन में सभापति पद से दिया गया भाषण है। वह एक छोटी सी पुस्तक ही है। स्वामीजी की रचना-शैली तथा पदार्थविवेचना का ढंग उसी से ठीक ठीक समझ में आसकता हैं। वह भाषण आयुर्वेद का संक्षिप्त विवरण कहा जाय तो असंगत नहीं। उसमें आपने आयुर्वेद के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का इतने उत्तम ढंग से विवेचन किया है कि उस का स्वरूपज्ञान उसको देखे बिना नहीं होता।

स्वामीजी की दूसरी रचना 'सिद्धभैषज्यमणिमाला" की टिप्पणी है। उस से यह सिद्ध होता है कि आवश्यकता से अधिक एक अक्षर भी अधिक लिखना आप उचित नहीं समझते थे। "सिद्धभैषज्यमणिमाला" का यह रूप भी स्वामीजी का ही बनाया हुआ है। जब स्वामीजी आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके तब भट्टजी महाराजने आदेश दिया कि हमारे लिखे हुए इन योगों को संग्रहीत कर पुस्तकाकार बनाइये। भट्टजी ने सिद्धभैषज्यमणिमाला की क्रमबद्ध रचना नहीं की थी। जब भी अवसर मिला और ध्यान में आया तभी कुछ लिख दिया। इस तरह की गयी यह रचना बहुत ही विश्रृङ्खलित थी। उसके प्रकरणों का विभाजन तथा उनका यथास्थान समन्वय स्वामीजी ने ही किया। पुस्तक रूप में स्वामीजी की एकमात्र यही रचना है।

पद्यरूप में स्वामीजी ने कोई खास रचना नहीं की है। समय २ पर बनाये हुए कुछ फुटकर पद्य ही आपके मिलते हैं। जैसे करीब दस पद्य सिद्धभैषज्यमणिमाला में हैं।

नौ पद्य स्वामीजी ने सन् १६१३ में जब कि लार्ड हार्डिंज पर बम फेंका गया था जिस से उन के चोट आयी थी और तदर्थ जब राज्य की ओर से गोविन्ददेवजी के मन्दिर में प्रार्थना-दिवस मनाया गया था–उस में सुनाये थे। पांच पद्य सप्तम एडवर्ड के सिंहासनारूढ होने के उत्सव विशेष पर बनाये थे। सात श्लोक आयुर्वेदमहामण्डल के सभापति पद से दिये गये भाषण के आदि अन्त में हैं। पन्द्रह–बीस श्लोक और दृष्टि गत हुए हैं। और पद्यरचना प्राप्त नहीं हुई। उदाहरणरूप में चार पद्य यहां उद्धृत करता हूँ।

वृन्दारकवृन्दादृतचरणं वृन्दारण्ये विहरन्तम्
मानवकुलदावानलदानवदुष्टकुलानि प्रहरन्तम्।
अम्भोदाधिपजम्भारिभ्रमवारणकारणकुरुविन्दम्
वन्दामो नन्दात्मजमेनममन्दानन्दं गोविन्दम्॥

आग्नेयास्त्रजवेदनामनुभवन् यो दुःसहां श्रीमता
क्ष्माधौरेयपरीक्षणं विदधता नायाससुत्तारितः।
तं भूयोऽधिक मेधमानममितः संगीतनितिच्छटम्
हार्डिञ्जं प्रविलोक्य नीरुजमजश्लाघ्यं प्रमोदामहे॥

आसीद् दादुमहर्षि दर्शितपथे संजात दीक्षाक्रम
श्छन्दः शास्त्र विचक्षणः सुभिषजामग्रेसरश्चन्दनः।
तेनायं परिलालितो निजसुतप्रेम्णाऽऽप्तविद्योदयो
लक्ष्मीरामशिशुस्सदैव विदुषां भूयात् कृपाभाजनम्॥

यत्प्रभापटलोद्भासि
भासतेऽद्यापि भारतम्।
आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः
शाश्वतं नः प्रकाशताम्॥

एक निबन्ध मद्रास गवर्नमेंट द्वारा नियुक्त "आयुर्वेदचिकित्साप्रणाली" की जांच करने वाली कमेटी को उसके प्रश्नों के उत्तर में दिया गया था जो राजवैद्य भिषगाचार्य पं० नन्दकिशोरजी शर्मा के तत्त्वावधान में प्रकाशित हुआ। यह निबन्ध भी संस्कृत गद्य में है। इस तरह दो निबन्ध, एक पुस्तक की टिप्पणी तथा ये फुटकर पद्य स्वामी जी की रचनायें हैं। आयुर्वेद-मर्मज्ञ की हैसियत से स्वामीजी की ये कृतियां बहुत ही न्यून हैं पर वे इतनी विशिष्ट हैं कि उन्हीं से स्वामीजी का अत्यन्त गौरव है।

स्वामीजी का स्वास्थ्य आरंभ से ही अत्यन्त कमजोर था। आपके सहजार्श की व्याधि थी पर आपके संयमी जीवन ने व्याधि का असर आपके स्वास्थ्य पर नहीं पड़ने दिया। पढाने एवं चिकित्सा में व्यापृत रहने से तथा सुकुमार शारीरिक सम्पत्ति के कारण स्वामीजी से रचनाकार्य अधिक सम्पादित नहीं हुआ। अध्यापन का परित्याग करने के बाद आपका संकल्प था कि आयुर्वेद का एक पूर्ण निघण्टु बनाया जाय परन्तु आपकी इच्छानुसार कार्यकर्ता न मिलने से यह कार्य स्थगित कर दिया। यदि आप के संकल्पानुसार यह कार्य पूरा हो जाता तो आयुर्वेद के पारिभाषिक शब्दों का एक सर्वाङ्ग सुन्दर ग्रन्थ तैयार हो जाता। अब इस कमी की पूर्ति कब होगी यह दैवाधीन है।

पत्रव्यवहार

स्वामीजी पत्रव्यवहार अपने हाथ से बहुत ही कम करते थे। चिकित्साकार्यारम्भ के साथ ही साथ अध्यापनकार्य करने के कारण आप के पास हमेशां योग्य छात्रों की उपस्थिति रहती थी। पत्र आदि लिखने का कार्य छात्रों पर ही रहता था। आये हुए पत्रों का उत्तर छात्र ही लिखा करते थे। कोई विशेष बात लिखनी होती तो आप उसका निर्देश कर देते थे। इससे आपके स्वहस्तलिखित पत्रों का अभावसा ही है। आपने एक पत्र हिन्दूयूनिवर्सिटी को सिण्डीकेट कमेटी में आयुर्वेदशिक्षा पर अपनी सम्मति का भेजा था। उसका प्रकाशन 'वैद्यसम्मेलनपत्रिका" के अंक में हो गया। आपके स्वहस्तलिखित एक दो पत्र, सम्भव है, पण्डित ठाकुरदत्तजी वैद्यशास्त्री मुलतानो लाहौर के पास हों क्योंकि उन्हें कभी कभी स्वामीजी अपने ही हाथ से पत्र लिखा करते थे ऐसा सुनने में आया है। एक दो पत्र पूज्य आचार्य यादवजी महाराज को भी दिये गये हों। पर उनमें से किसी की भी प्रतिलिप नहीं होने से यहां दिखाना शक्य नहीं। पत्रिका में प्रकाशित हुये पत्र की नकल यहां इसलिये नहीं दी कि उसका प्रकाशन हो ही चुका है।

पदाधिकार व उनका समुचित उपयोग

स्वामी जी के जीवन में नियमबद्ध व व्यवस्थित ढंग से काम करने की स्वाभाविकता थी। यही कारण है कि स्वामी जी ने जिस२ क्षेत्र के काम में भाग लिया उसी में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। स्वामी जी को अपने जीवन में कई संस्थाओं के संचालन का भार वहन करना पड़ा पर आपके तत्वावधान में कार्य में कभी गड़बड़ नहीं हुई।

पहले पहल सार्वजनिक कार्य संचालन का भार कलकत्ते में षष्ठ-वैद्यसम्मेलन के सभापतित्व के अवसर पर आया। एक सार्वदेशिक संस्था के सभापति पद का कार्यभार कितना गुरुतर होता है? बिभिन्न विचारों के अनेक महान् व्यक्तियों के साथ सबको सन्तुष्ट रखते हुए संस्था का हितसम्पादन करना साधारण काम नहीं। ऐसे कार्य में कितनी योग्यता, धैर्य, शान्ति तथा कार्यपटुताकी आवश्यकता होती है यह वे व्यक्ति ही भली प्रकार जान सकते हैं जिनका ऐसे कार्यों से सम्बन्ध रहता है। बंगालप्रदेश दिमागी शक्ति में मद्रास को छोड और सब प्रान्तों से आगे है। स्वामीजी सभापति हुए उस समय कलकत्ते में कई ख्यात-नामा कविराज आयुर्वेद के महान् मर्मज्ञ विद्यमान् थे। बंगाल आयुर्वैदिक पद्धति का प्रधान केन्द्र है। प्रथम ही प्रथम ऐसे क्षेत्र में स्वामीजी का काम करने का अवसर आया। किन्तु स्वामीजी ने बड़ी दक्षता से कार्य का संचालन किया। आपका सभापतित्व बड़ा सम्माननीय रहा।

सम्मेलन के कर्णधारों ने आयुर्वेद शिक्षा का प्रचार करने के निमित्त "आयुर्वेद विद्यापीठ" की स्थापना की। सन् १६१७ में आप उसके सभापति चुने गये। तब से अन्त तक आप कभी उसके सभापति तथा कभी उपसभापति पद पर बराबर आसीन रहे। इस पर रहते हुए आपने विद्यापीठ के कार्य का संचालन किस प्रकार किया यह संस्था से

संबन्ध रखनेवाले व्यक्ति भली प्रकार जानते हैं। विद्यापीठ की पाठ्य-प्रणाली की वर्तमान रूप आपही के सतत प्रयास तथा जागरूकता का परिणाम है। आपने उन सब आघातों का, जो समय २ पर इस प्रणाली के परिवर्तनार्थ आये, निवारण कर अपने पद का औचित्य प्रदर्शित किया।

आप "धन्वन्तरि औषधालय" 'धन्वन्तरि आरोग्यशाला" तथा "श्रीदादूमहाविद्यालय" जयपुर की कार्यकारिणी के भी सभापति, उप-सभापति पदों को बराबर अलंकृत करते रहे। आप ही की कार्यपटुता का परिणाम है कि आज भी ये संस्थायें अपने २ काम को ठीक प्रकार से सम्पादन कर रही हैं।

मतलब आपने अपने पद की मर्यादा का कभी भंग नहीं किया। पूरी सतर्कता के साथ कार्य का संचालन किया। यही हेतु है कि आपके अधीन जो भी कार्य आये वे सभी सफल हुए। आपने अपने पद की न तो कभी उपेक्षा की और न कभी उसका दुरुपयोग। आपको ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलेंगे कि सर्वदा पद का समुचित उपयोग किया जाय, पर स्वामीजी का उदाहरण ऐसा ही था। आपने जिस उत्तम पद के कार्य का अधिकार स्वीकार किया उस का वैसा ही समुचित उपयोग भी सर्वदा किया।

गवर्नमेण्ट से नियुक्त कमेटियों में आह्वान

पिछले कुछ वर्षों से देश के अग्रणी व्यक्तियों का ध्यान इस ओर गया है कि इस गरीब देश के लिये आयुर्वेद तथा यूनानी (देशी चिकित्सा पद्धति) अधिक उपादेय है, अतः इन पद्धतियों को भी राज्याश्रय मिलना चाहिये। प्रान्त प्रान्त में वैद्यसमुदाय तथा साधारण जनता के अनवरत आन्दोलन होने से कई २ प्रान्तों की गवर्नमेण्ट ने आरम्भ में ऐसी कमेटियों का आयोजन किया कि वे इस बात का निर्णय करें कि क्या आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा पद्धतियां चिकित्सा के काम में आने लायक हैं। क्या ये आधुनिक वैज्ञानिक तरीके से काम में लाई जा सकतीं हैं ? जिस तरह ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति प्रायः प्रत्यक्ष के आश्रित है तथा जिस तरह इस में पहले परीक्षण कर पश्चात् औषध प्रयोग किया जाता है इसी तरह इन चिकित्सा पद्धतियों का परीक्षण करने पर ये भी उसी तरह सार्थक साबित हो सकती है ?

शायद सर्वप्रथम यह योजना मद्रास गवर्नमेण्ट ने की। कमेटी ने स्वामीजी को कमेटी में सदस्य बनने को आमन्त्रित किया था। पर अध्यापन का कार्य तथा शारीरिक स्थिति के कारण स्वामीजी ने कमेटी में सम्मिलित होने में असमर्थता प्रकट की। उस कमेटी के सदस्यों ने भारतवर्ष के सम्पूर्ण प्रधान नगरों की यात्रा की। उक्त कमेटी के सदस्य स्वामीजी की गवाही लेने विशेषरूप से जयपुर आये।

कमेटी की एक प्रश्नावली थी। स्वामीजी ने अपनी लिखित गवाही दी थी। सम्पूर्ण प्रश्नों के शास्त्रीय तथा युक्तियुक्त तरीके से उत्तर दिये गये थे। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट लिखी उसमें बड़े सम्मान के साथ स्वामीजी के उत्तरों का उल्लेख किया है तथा उनकी स्वीकृति में अपनी सम्मति दी है।

उन की प्रश्नावली में १० प्रश्न थे। उन में ऐसे प्रश्न भी थे— "आयुर्वेद-सिद्धान्त से रोग के हेतु क्या हैं ? उन हेतुओं की नवीन प्रणाली से परीक्षा करें तो क्या वे परीक्षासाध्य हैं ? पदार्थ विज्ञान, रसतन्त्र, जीवशास्त्र, शरीर व्यवच्छेदशास्त्र, शरीर क्रियातन्त्र, कृमिशास्त्र, शल्यतन्त्र, क्या इनका आधुनिक पद्धति से शिक्षण आयुर्वेदाध्ययन करनेवाले छात्रों के लिये आवश्यक तथा उपादेय है ? यदि है तो इनका पाठ्यक्रम में कैसे प्रवेश हो ? तथा इन की शिक्षा की व्यवस्था कैसे हो ? इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि कमीशन की प्रश्नावली सामान्य नहीं थी। स्वामीजी ने उनके जिस प्रकार उत्तर दिये हैं उनका "आयुर्वेद विज्ञानम्" नाम से प्रकाशन हो गया है, पर वह संस्कृत भाषा में है अतः सर्वसाधारण के समझने के योग्य नहीं। यदि उसका हिन्दी अनुवाद होकर प्रकाशन हो जाय तो वह सर्वसाधारण के समझने की चीज बन जाय। इन प्रश्नों में प्रायः वे सब प्रश्न आ गये हैं जो कि आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली पर आक्षेप रूप से समय २ पर जनता के सामने लाये गये हैं।

वैज्ञानिक तथा डाक्टरों के दृष्टिकोण इस पद्धति के बारे में कैसे हैं इसका भी इन प्रश्नों में पूरा आभास आया हुआ है अतः इनके स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर पढ़ने से बहुत से आक्षेपों का सहज ही निराकरण हो जाता है। सम्भव है स्वामी जयरामदासजी भिषगाचार्य पूज्य स्वामीजी के भाषण तथा 'आयुर्वेदविज्ञानम्" का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर आयुर्वेदीय छात्रों का हित सम्पादन शीघ्र करें !

मद्रास के पश्चात् बंगाल गवर्नमेण्ट ने भी इसी प्रकार का एक कमीशन नियुक्त किया था। स्वामीजी को उस में भी आमन्त्रित किया गया था, पर उपर्युक्त कारणों से स्वामीजी उसमें भी सम्मिलित नहीं हुए।

कुछ समय बाद यू० पी० गवर्नमेण्ट ने भी इसी प्रकार का कमीशन नियुक्त किया जिस की बैठक शायद हिन्दू यूनिवर्सिटी में हुई थी। आप उस में भी आमन्त्रित किये गये थे पर आप पधारे नहीं। लिखित सम्मति पत्र भेज दिया था। आप की सम्मति का यहां भी वैसा ही सम्मान रहा जैसा कि मद्रास-कमीशन में रहा था।

उपर्युक्त परिस्थिति से यह निष्कर्ष निकलता है कि आयुर्वेदसम्बन्धी ज्ञान में स्वामीजी का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण था।

परीक्षक

स्वामीजी आयुर्वेद की भारतीय शिक्षण संस्थाओं में प्रमुख स्थान रखनेवाली सभी संस्थाओं के परीक्षक थे। जिन में से मुख्य मुख्य के नाम निम्न लिखित हैं:—

१ हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस।

२ आयुर्वेद विद्यापीठ।

३ ऋषिकुल आयुर्वैदिक कालेज (हरिद्वार)।

४ पटना गवर्नमेण्ट आयुर्वैदिक कालेज।

५ डी० ए० वी० आयुर्वैदिक कालेज लाहोर।

६ वैद्य शास्त्र पीठ (कलकत्ता)।

७ वैद्यक एण्ड यूनानी तिब्बी कालेज (देहली)।

८ बनवारीलाल विद्यालय (देहली)।

९ जयपुर राजकीय संस्कृत कालेज (आयुर्वेद विभाग)।

आप वर्षों से इन संस्थाओं के परीक्षक थे।

संस्था–स्थापना ।

श्री धन्वन्तरि औषधालय

स्वामीजी आयुर्वेद सेवा के नितान्त व्रती थे। आपका लक्ष्य सर्वदा इस बात की ओर लगा रहता था कि आयुर्वेद की सेवा अधिक से अधिक कैसे हो सकती है। मैं पहले उल्लेख कर आया हूँ कि स्वामीजी का यह भी ध्येय था कि आयुर्वेद के छात्र शिक्षा के साथ २ क्रियाभ्यास भी अवश्य करें। राज्य की ओर से इस की व्यवस्था ही नहीं पाई थी। और कोई साधन प्राप्त नहीं था। इस स्थिति में कुछ छात्र जो स्वामीजी के पास ही रहते थे वे तो स्वामीजी के ही औषधालय में औषधनिर्माण तथा रोगियों को औषध देने आदि का काम सीख लेते थे पर सबके लिये यह साध्य नहीं था।

सम्वत् १९७५ में भरतपुर राज्य के 'कामा' नामक स्थान में कामा के गोस्वामी श्रीबल्लभाचार्यजी महाराज ने अपने यहां एक धर्मार्थ औषधालय की स्थापना की। उसी समय गोस्वामीजी तथा अधिकारी जगन्नाथदासजी आदि के प्रयास से राजपूताना प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन का प्रथमाधिवेशन भी किया गया था। अधिवेशन के आरंभ में भरतपुर महाराजा भी पधारे थे। गोस्वामीजी का विशेष निमन्त्रण पा कर यहां जयपुर से पूज्यपाद स्वामीजी महाराज, राजवैद्य चिकित्सक चूड़ामणि श्यामलालजी, भिषगाचार्य दुर्गाप्रसादजी पधारे थे। हम में से कुछ छात्र भी सेवा में गये थे। अधिवेशन बड़ी धूम-धाम से हुआ। वहीं स्वामीजी तथा राजवैद्य श्यामलालजी का संकल्प हुआ कि आयुर्वेदसम्बन्धी कोई संस्था जयपुर में भी स्थापित होनी चाहिये। इसी संकल्प का परिणाम सं० १९७६ में "धन्वन्तरि औषधालय" के रूप में प्रकट हुआ। भरतपुर से लौट कर स्वामीजी तथा श्यामलालजी ने स्थानीय प्रमुख २

व्यक्तियों की एक सभा का आह्वान किया। सभी व्यक्ति सभा में सम्मिलित हुए। स्वामीजी तथा श्यामलालजी ने जयपुर में जनसाधारण की आयुर्वेद चिकित्सा द्वारा सेवा करने के लिए एक औषधालय की स्थापना का प्रस्ताव किया। सभी समागत सज्जनों ने इस प्रस्ताव का सहर्ष समर्थन किया।

एक अस्थायी कमेटी का आयोजन हो गया और सहायतार्थ चन्दे का प्रयास प्रारम्भ कर दिया गया। उस समय जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री सेठ नौरङ्गरायजी खेताण थे। खेताणजी सार्वजनिक कार्यों में बड़े उत्साह से भाग लेते थे। खेताणजी, मुन्शी नानगरामजी, मुन्शी रामप्रतापजी, मुन्शी प्यारेलालजी, नायब नथमलजी, नायब श्रीनिवासजी, सेठ शिव प्रसादजी खेताण, सेठ बिहारीलालजी कोडीवाले आदि सज्जनों ने पूरे उत्साह से इस कार्य में भाग लिया। भगवान धन्वन्तरि की अनुकम्पा, पूज्य स्वामीजी तथा श्यामलालजी का सत्यनिष्ठासम्पन्न उद्योग तथा उस समय के प्रमुख व्यक्तियों के पूर्ण सहयोग से संवत् १९७६ की आषाढ शुक्ला २ द्वितीया को परताणियों के मन्दिर में श्री धन्वन्तरि औषधालय की स्थापना की गई।

स्थापना के समय इसका स्थायी कोष १५०००) पन्द्रह हजार रुपये और ५५) रु० मासिक की सहायता के वचन मिले हुए थे। आरम्भ में एक वैद्य और एक औषधदाता-ऐसे दो कार्यकर्ता नियुक्त किये थे। थोड़े समय बाद कार्य की वृद्धि ने कार्यकर्ताओं की अधिक आवश्यकता प्रतीत करायी। तब दो वैद्य और पांच दवा बनाने वाले आदमी नियुक्त हुए। औषधालय में दी जाने वाली सभी औषध वहीं तैयार की जाती थी। पर पूज्य स्वामीजी का लक्ष्य था कि सभी विश्वस्त देशी औषधियां सर्व साधारण को कम कीमत में सुलभ हो सकें एदर्थ एक फार्मेसी की

भी आवश्यकता है। महान् पुरुषों के संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होते। सन् १९२२ के सितम्बर मास में, संवत् १९७८ की धन्वन्तरि त्रयोदशी को शायद "धन्वन्तरि फार्मेसी" का पूज्य स्वामीजी ने अपने ही कर कमलों से उद्घाटन किया। स्थापना के थोड़े समय पश्चात् ही 'फार्मेसी' विभाग ने अपने काम को अपने जिम्मे पर संभाल लिया। शास्त्रीय विधि से रस, उपरस, धातु उपधातु आदि सब सिद्ध औषध घृत, तैल, अवलेह, गुग्गुल, चूर्णवटी आदि सब का निर्माण होने लगा। देशी औषधियां सुलभ हो गयीं। अब औषध निर्माण का सब काम फार्मेसी विभाग से सम्पन्न होता है। स्वामीजी की एक आकांक्षा और थी। जिस प्रकार ऐलोपैथी में रोगियों को एक नियत स्थान में रख कर इलाज किया जाता है वैसे ही आयुर्वेद-प्रणाली से किया जाय इस के लिये 'आतुरालय' विभाग की आवश्यकता थी पर उसके लिये आरंभ में खर्च तथा आगे भी कार्य-संचालन के लिये पर्याप्त अर्थ (धन) की आवश्यकता थी। आपका यह संकल्प भी पूरा हो गया। आरम्भिक व्यय के लिये तीन सहस्र (हजार) की सहायता श्रीमान् दानबीर बाबू घनश्यामदासजी बिड़ला ने प्रदान की। कुछ वार्षिक सहायता का भी वचन मिल गया। अतः सन् १९२५ की २५ मई को तत्कालीन राजकीय कौंसिल (धारा-सभा) के प्रेसीडेण्ट लारेन्स महोदय के हाथ से इसका उद्घाटन संस्कार हुआ। इस में १० से पन्द्रह तक रोगी रख कर आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली से इलाज किया जाता है। इसकी स्थापना से दो कामों की पूर्ति हुई। एक तो ऐसे दीन दुःखी बीमार जो पथ्य आदि के अभाव से चिकित्सा नहीं करा सकते उनकी चिकित्सा की व्यवस्था हो गयी। इस से आयुर्वेद पढने वाले छात्रों को रोगी तथा रोगी के उपचार एवं औषध का प्रत्यक्ष ज्ञान सुलभ हो गया। इसी संस्था में प्रयोग शाला और पुस्तकालय भी है। प्रयोगशाला में रोगियों के मल, मूत्र, रक्त, श्लेष्मा

आदि की परीक्षा की जाती तथा छात्रों को सिखाई जाती है। पुस्तकालय में आयुर्वेदीय पुस्तकों का उत्तम संग्रह है।

स्वामीजी द्वारा इस संस्था की स्थापना से जयपुरीय जनता को अत्यधिक लाभ होता है। आयुर्वेद की सेवा के साथ २ जनसेवा का भी यह सर्वोत्तम काम है। इसका स्थान जौहरी बाजार में है। चार मंजिल के दीर्घकाय इस विशाल भवन में औषधालय, फार्मेसी, आरोग्यशाला, पुस्तकालय, प्रयोगशाला इन सब विभागों का कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो रहा है। इस स्थान की प्राप्ति में भी आप ही मुख्य हेतु हैं। बिड़ला-परिवार के अर्थ(धन)तथा स्वामीजी की विचार सरणी द्वारा औषधालय को यह उत्तम स्थान प्राप्त हुआ। इस संस्था ने आयुर्वेद की उपादेयता सिद्ध करने में भी पर्याप्त सफलता पाई है। आरोग्यशाला में ऐसे २ रोगियों ने स्वास्थ्य-लाभ किया है जिनके जीवन से अन्य चिकित्सक प्रायः निराश हो गये थे। 'फार्मेसी' ने विशुद्ध आयुर्वेदीय औषधों के प्रचार में पर्याप्त उन्नति की है। "औषधालय" ने अब तक बीस लाख से अधिक रोगियों को औषध प्रदान किया है।

"औषधालय" तथा "आरोग्यशाला" को मिलाकर स्वामीजी ने करीब ३००००) तीस हजार का दान दिया है। आरोग्यशाला के रोगियों को वहां जाकर देखना, अपने यहां से विशेष औषध देना आदि की सहायता अलग है। 'फार्मेसी' विभाग को आपने उसकी औषधों की बिक्री के द्वारा सहायता पहुंचाई है। आप अपनी चिकित्सा द्वारा फार्मेसी विभाग में औषधियां की काफ़ी बिक्री करा देते थे। इस तरह तन, मन, धन से अभिषिञ्चित तथा अभिवर्धित कर आपही ने इस संस्था को आदर्श संस्था के रूप में पहुंचाया। संस्था इस समय अपने घरू मकान में है। कार्यकर्ताओं की संख्या इस समय करीब २० है

जिन में तीन प्रमुख वैद्य हैं। करीब ३००००) तीस हजार औषधालय का स्थायी कोष है। करीब २२०००) बाईस हजार आरोग्यशाला का स्थायी कोष है। मासिक आय से भी अच्छी सहायता मिल जाती है। स्वामीजी ने प्रयत्न कर जयपुर-सरकार से भी १५०) डेढसौ रु० की मासिक सहायता दोनों विभागों को प्राप्त करा दी है। आप का आरोपित किया हुआ यह वृक्ष आगे अधिकाधिक विवर्धित होता जाय यह आशा जयपुरीय जनता तथा ईश्वरीय अनुकम्पा के ऊपर आश्रित है।

श्रीदादूमहाविद्यालय

आरंभ में यह उल्लेख किया जा चुका है कि स्वामीजी स्वामी चन्द्नदासजी (चुन्नीलालजी) के शिष्य थे जो दादूपन्थी साधु थे। बहुत से पाठक महानुभाव इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में बहुत जानते होंगे। अतः इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन करा देना असंगत नहीं होगा। यह सम्प्रदाय राजपूताने में करीब चारसौ वर्षों से प्रचलित है। इस के प्रवर्तक महान् महात्मा श्री स्वामी दादूजी महाराज संवत् १६०१ में हुए थे। उन के जन्मस्थान के विषय में मतभेद है पर अधिकांश परम्परागत जनश्रुति यह है कि आप अहमदाबाद की साबरमती नदी में नागर ब्राह्मण लोदीराम को प्राप्त हुए थे जो कि निःसन्तान था। उसी ब्राह्मण द्वारा इनका पालन पोषण हुआ। ग्यारह वर्ष की आयु में आप घरका परित्याग कर ईश्वराराधन में लग गये। वहां से सिरोही, आबू होते हुए पुष्कर से आगे निकल कर 'करडाले' ग्राम के पास एक पहाड़ी पर कुछ समय ईश्वराराधन किया। वहां से सांभर के सर में करीब सोलह वर्ष रहे। बत्तीस वर्ष से चवालीस वर्ष की आयु तक जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी 'आमेर' में निवास किया। पश्चाद् भ्रमण तथा उपदेश द्वारा जनसाधारण का उपकार किया। आप बहुत उच्च कोटि के महात्मा हुए। प्राणिमात्र से प्रेम, निर्गुण ब्रह्म की उपासना, जाति-पांति की विभिन्नता से दूर रहना, यह आप के मुख्य सिद्धान्त थे। आप के प्रवचनों का संग्रह "वाणी" नामक ग्रन्थ में है। जिस के कई संस्करण निकल चुके हैं। आप ही से इस सम्प्रदाय का आरंभ हुआ। आप का अपना कोई नया सम्प्रदाय बनाने का लक्ष्य नहीं था। पर कबीर आदि महात्माओं की तरह आप के अनुयायियों ने आप के पश्चात आपके सिद्धान्तों का अनुगमन कर जीवन यापन करना अपना लक्ष्य बनाया

और इसी हेतु से अपने को 'दादूपन्थी' नाम से कहना आरम्भ कर दिया। इसी की परम्परा अब तक चली आरही है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी राजपूताना प्रान्त में प्रायः सभी जगह—जयपुर, जोधपुर, उद-यपुर, बीकानेर, अलवर, कोटा, बूंदी किशनगढ आदि रियासतों में तथा मालवा, गुजरात, पंजाब आदि प्रान्तों में भी पर्याप्त संख्या में बसे हुए हैं। जयपुर राज्य दादूजी महाराज का प्रधान क्षेत्र रहा अतः इस राज्य में इन की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। वैसे तो आरम्भ ही से इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध जयपुर राज्य से चला आ रहा है क्योंकि राजा भगवानदासजी दादूजी महाराज के समकालीन थे और उनमें पूर्ण श्रद्धा भक्ति भी रखते थे। पर संवत् १८०० के आरम्भ से इस सम्प्रदाय के एक विभाग का, जिसको कि नागा कहते हैं, इस राज्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ। यह विभाग सशस्त्र रहता था अतः राज्य की लड़ाई में इस से पर्याप्त सहायता मिल सकती थी और यही सहायता इसने दी भी। उस समय से अबतक इनका यह सम्बन्ध चल रहा है। अब कुछ समय से इस सम्बन्ध के टूटने का उपक्रम हो गया है। मत-लब यह है कि इस राज्य से इस सम्प्रदाय का बहुत समय से विशेष सम्बन्ध रहने से तथा दादूजी के भ्रमण, तप, उपदेश तथा अन्त-समय के स्थान प्रायः इसी राज्य में हैं इस लिये इस सम्प्रदाय के अनुयायी इस राज्य में अधिक संख्या में हैं।

इस सम्प्रदाय में दादूजी के पश्चात् भी अनेक सिद्ध कोटि के महा-त्मा हुए हैं। कोई शताब्दी ऐसी नहीं गई जिस में इस सम्प्रदाय में पांच सात प्रसिद्ध योगी, सिद्ध तथा भजनानन्दी महात्मा न हुए हों। इसी सम्प्रदाय में सुन्दरदासजी जैसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि, रसपुंजजी जैसे छन्दःशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान्, निश्चलदासजी जैसे वेदान्त तथा दर्शनों

के अद्भुत ज्ञाता एवं 'विचारसागर' तथा वृत्तिप्रभाकर' के निर्माता, योगिराज भक्तरामजी, भजनानन्दी शेषरामजी, तूहीरामजी, रामशरणजी महानन्दजी, मोतीरामजी आदि ख्यातनामा विद्वान् हुए हैं। इसी प्रसिद्ध 'दादू सम्प्रदाय' में स्वामीजी थे।

स्वामीजी का प्रधान लक्ष्य आयुर्वेद की ओर था पर अपने सम्प्रदायको सर्वथा भूल नहीं गये थे। आपने सामयिक स्थिति को देख कर विचार किया कि अब समय और प्रकार का आरहा है। यह शिक्षा-प्रधान काल है। इस में अशिक्षित व्यक्ति की कोई पूछ नहीं है। साधुओं में परम्परा से शिक्षा का प्रचार कम ही है। अतः इनकी इस कमी का परिहार होना चाहिये। आप का यह संकल्प चल रहा था कि संवत् १९७६ के फाल्गुन मास में सम्प्रदाय के तत्कालीन आचार्य स्वामी दयारामजी ने बिशेष मेला किया। स्वामीजी ने यही समय उपयुक्त समझा क्यों कि इस अवसर पर साधुओं में से अधिकांश योग्य तथा प्रमुख व्यक्ति एकत्र होने को थे। आपने भी मेले में जाने का संकल्प किया और मेले में पधारे। वहीं साधुओं में से अग्रगण्य व्यक्तिओं से विचार विनिमय कर सभा का आयोजन किया और विद्यालय-स्थापना की आवश्यकता प्रदर्शित की। साधुसमाज ने स्वामीजी के प्रस्ताव में सहर्ष सम्मति प्रकट की और चन्दे का कार्यारम्भ कर दिया गया। करीब तीस बत्तीस हजार का चन्दा लिखा गया।

संवत् १९७७ को ज्येष्ठ शुक्ला दशमी को रामनिवास बाग के पास स्वामी रतिरामजी के बाग में स्वर्गीय पूज्य नैष्ठिक स्वामी श्री नारायण मुनिजी के कर कमलों से "श्री दादूमहाविद्यालय" नामक शिक्षा-संस्था का उद्घाटन किया गया। आरम्भ में ११ ग्यारह छात्र तथा १९०००) उन्नीस हजार के फण्ड से कार्यारम्भ किया गया। इसी का धीरे धीरे

रूप बढ़ता गया। स्वामीजी का जैसा संकल्प था वैसा तो कार्य नहीं हुआ क्योंकि साधुओं की शिक्षा-विरत प्रवृत्ति तथा प्रचाराभाव आदि के कारण इतने समय में इसका जैसा विस्तृत रूप होना चाहिये था वैसा नहीं हो पाया। फिर भी इस संस्थाने निरक्षरता निवृत्ति में पर्याप्त कार्य सम्पादित किया है। संस्था ने सैंकडों साधु बालकों को साक्षर बना दिया। दशियों अच्छे शास्त्रीय विद्वान् भी तैयार हुए। इस संस्था को बीस वर्ष होगये। साधु सम्प्रदाय के लिये इस संस्था का विशेष स्थान है। राजपूताने में साधुओं की शिक्षा का स्वतन्त्र प्रबन्ध कहीं नहीं है। स्वामीजी ने इस संस्था द्वारा इस कमी का परिहार किया।

इस समय यह संस्था स्वकीय नवीन स्थान में आगयी है जो करीब ४००००) चालीस हजार की लागत से बना है और मोतीडूंगरी के पास उणियारे वालों के बाग के सामने है। इसका स्थायी फण्ड पिचासी हजार है। संस्था में करीब पचास छात्र रहते तथा अध्ययन करते हैं। पचास के करीब छात्र नागरिक भी आते हैं इस तरह यह स्वामीजी के संकल्प का दूसरा मूर्त रूप है।

इस तरह स्वामीजी ने दो संस्थाओं की स्थापना कर शिक्षा तथा स्वास्थ्य-प्रदान द्वारा जनसाधारण का कितना हित सम्पादन किया है यह कहने की आवश्यकता नहीं। स्वामीजी में श्रद्धा तथा प्रेम रखने वाले व्यक्ति इन उभय संस्थाओं का संरक्षण कर स्वामीजी के सदुद्देश्य की पूर्ति में सहायक होते हुए अपने कर्तव्य को पूरा करें यही उन से आशा है।

श्रीस्वामीलक्ष्मीराम ट्रस्ट

उपर्युक्त दोनों संस्थाओं की स्थापना के पश्चात् स्वामीजी का एक संकल्प और शेष रहा। आप का विचार था कि व्यक्तिगत अधिकार का सर्वदा उचित उपयोग नहीं होता। सन्तान परम्परा या शिष्यपरम्परा दोनों में ही उपर्युक्त दोष के दृष्टान्त दृष्टिगत होते हैं। अतः आप चाहते थे कि आप के पश्चात् परम्परागत अधिकार से स्थान की अधोगति न हो। इस का भी कुछ उपाय हो तो ठीक। आप बाग को एक स्मारक के रूप में मानते थे क्योंकि वह आपके गुरु स्वामी चन्दनदासजी के संकल्प का मूर्त रूप था। आप का विचार था सम्पत्ति और स्थान का संरक्षण व्यक्ति की अपेक्षा व्यक्तियों द्वारा अधिक अच्छा होता है। अतः आपने इस भावना को सार्थक करने के लिये 'श्रीस्वामीलक्ष्मीराम ट्रस्ट' का निर्माण किया। ट्रस्ट के दो विभाग हैं। एक 'लक्ष्मीरामोद्यान' तथा दूसरा एकलाख रुपये 'लक्ष्मीरामोद्यान' करीब डेढ़ लाख की लागत का एक सुरम्य स्थान है। जिसमें कई स्थान बने हुए हैं। बीच में एक विस्तृत सुन्दर महल है। उसी के एक भाग में आप के गुरुजी तथा उन से पहले के पूर्वजों के चरण स्थापित हैं। यह सब सम्पति आपने एक ट्रस्टके अधिकार में दे दी।

बाग का संरक्षण, चरणों की पूजा तथा सुरक्षा और एक लाख रुपये के किये गये विभिन्न विभागों का कार्य यथावत् सम्पादन करना ट्रस्ट के अधिकारियों की जिम्मेवारी है। ट्रस्ट के अधिकारियों में स्वामीजी के अतिरिक्त चार व्यक्ति और थे जो अब भी हैं। अब स्वामीजी के स्थान में आप के उत्तराधिकारी स्वामी जयरामदासजी हैं। एक लाख रुपयों में ७५०००) पचहत्तर हजार का उपयोग करने का निर्देश निम्न रूप से है:–

१५०००) पन्द्रह हजार का व्याज 'धन्वन्तरि आरोग्यशाला' को, १००००) दश हजार का व्याज 'धन्वन्तरि औषधालय' को, १००००) दश हजार का व्याज 'श्री दादूमहाविद्यालय' को, १००००) दश हजार का व्याज 'संस्कृतकालेज-जयपुर' के असहाय छात्रों को छात्रवृत्ति के लिये, ५०००) पांच हजार का व्याज दादूपन्थी साधु छात्र को विशेष छात्रवृत्ति देने के लिये, २००००) बीस हजार का व्याज आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ अथवा नवीन ग्रन्थों के निर्माण के पुरस्कार रूप में, ५०००) पांच हजार दादूपन्थी सम्प्रदाय की साम्प्रदायिक प्राचीन पुस्तकों के प्रकाशनार्थ तथा संरक्षणार्थ। २५०००) पचीस हजार का व्याज बाग के संरक्षण, चरणपूजा तथा बाग में स्थापित किये जाने वाले पुस्तकालय के संचालन के लिये।

ट्रस्ट का एक नियम-पत्र बना हुआ है। उस में सब विभागों के द्रव्य का यथोचित उपयोग करने का सुव्यवस्थित विवरण है। नियम-पत्र के अनुसार ही ट्रस्टी इसकी व्यवस्था करते रहें ऐसा स्वामीजी का निर्देश है। स्वामी जयरामदासजी के व्यतिरिक्त, वर्तमान में चार ट्रस्टी ये हैं-

१ महन्त श्री गङ्गादासजी राजगुरु।

२ पं० श्यामसुन्दरजी एम. ए. रजिस्ट्रार आगरा यूनिवर्सिटी

३ राजवैद्य भिषगाचार्य पं० नन्दकिशोरजी शर्म्मा।

४ स्वामी मङ्गलदासजी प्रबन्धक "श्रीदादूमहाविद्यालय"

ट्रस्ट के इस सामान्य दिग्दर्शन से इसकी उपादेयता ज्ञात होजायगी। इस तरह स्वामीजी ने आयुर्वेद की सेवा, समाज-सेवा तथा अपनी परम्परा का संरक्षण कर निश्चिन्तता प्राप्त की। स्वामीजी के ये तीनों कार्य आपकी परम दीर्घ दृष्टि के द्योतक हैं। ये तीनों स्वामीजी के सजीव स्मारक हैं। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह इन तीनों आरम्भों को चिरकाल तक बनाये रक्खे।

आयुर्वेद सेवा में विशेष स्थान

पीछे के प्रकरणों से यह तो स्पष्ट ही है कि स्वामीजी ने आयुर्वेद की सेवा का कितना ठोस काम किया। शिक्षा, चिकित्सा, संस्थाओं की स्थापना, वैद्यसम्मेलन, विद्यापीठ आदि के कार्य संचालन द्वारा आयुर्वेद के प्रचार तथा प्रसार की उत्तरोत्तर वृद्धि की, पर इन सब के अतिरिक्त स्वामीजी में और भी विशेषतायें थीं। आप चरक की चिकित्सा-प्रणाली के अनन्य भक्त थे। रोग ज्ञान में त्रिदोष सिद्धान्त पर आपका अटल विश्वास था। आपका सिद्धान्त था कि चीर-फाड (सर्जरी) के रोगों के व्यतिरिक्त शारीरिक रोगों का निराकरण आयुर्वैदिक प्रणाली से जैसा हो सकता है वैसा और किसी प्रणाली से नहीं।

आप केवल प्राचीन प्रणाली के आग्रही या अन्धानुयायी नहीं थे। आप इस बात के पूर्ण पक्षपाती थे कि ऊपरी उपकरण जो कि रोगज्ञान में विशेष सहायक हों उन का समावेश आयुर्वेद-शिक्षा में अवश्य किया जाना चाहिये। शारीरिक ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण भी आप आवश्यक मानते थे। शास्त्रीय शिक्षा के साथ साथ कर्माऽभ्यास भी अवश्य होना चाहिये इसका आप बार बार निर्देश किया करते थे। आप ही के प्रयास से जयपुर में आयुर्वेद शिक्षा के साथ इनका समावेश हुआ। पर साथ आप का यह भी प्रबल पक्ष था कि आयुर्वेद-प्रणाली को अन्य प्रणालियों से मिश्रित न किया जाय। आप इस बात के विरोधी थे कि वैद्य बाहरी 'रजिस्टर्ड' औषधियों का आयुर्वैदिक औषधियों के साथ प्रयोग करें। आजकल बहुत से वैद्य अपनी चिकित्सा में डाक्टरी औषधियों का देशी औषधियों में मिश्रण कर या नाम बदल कर उपयोग में लाते हैं। आप इसके विरुद्ध थे। आपने अपने औषधालय में कभी ऐसा नहीं किया। अंग्रेजी औषधियें तो क्या, देशी औषधियों मे फकीरी नुस्खों

का भी उपयोग आप नहीं करते थे। आपने सदा ग्रन्थोक्त औषधियों का ही प्रयोग किया। आपने यह प्रमाणित कर के दिखाया कि केवल आयुर्वेदिक औषधियों पर आश्रित रह कर भी उत्तम से उत्तम चिकित्सा की जा सकती है।

आयुर्वेद की शिक्षा तथा चिकित्सा में आपकी कुछ खास मर्यादायें थी आपने उन का बड़ी तत्परता से पालन किया। आप शिक्षा में नवीन विषयों का समावेश चाहते थे पर चरक और सुश्रुत की शिक्षा व्याख्यानों के तरीके पर दी जाय यह आप बिलकुल नहीं चाहते थे। चरक, सुश्रुत, वाग्भट की शिक्षा ग्रन्थाश्रित ही उपादेय मानते थे। इसके लिये आपने कई बार हिन्दू यूनिवर्सिटी की शिक्षाप्रणाली में इसी की प्रधानता रक्खी जाय इसका समर्थन किया। आयुर्वेद की सब परीक्षायें हिन्दी में हों इस में भी आप सहमत नहीं थे। आपका अभिमत था कि चरक सुश्रुत का अध्ययन करने वाला संस्कृत का अच्छा ज्ञाता होना चाहिये। और इन ग्रन्थों की परीक्षा संस्कृत भाषा में ही होनी चाहिये। विद्यापीठ की परीक्षाओं पर कईबार इस प्रकार के प्रस्ताव आये पर आपने उनका उपादेयता के साथ विरोध किया।

चिकित्सा में भी आप ऐसी ही विशुद्धता के पक्षपाती थे। विज्ञापन तथा दिखाऊ आडम्बर के आप सर्वथा विपरीत थे। आरंभ से अन्त तक आपने कभी अपनी चिकित्सा के प्रसार के लिये विज्ञापन का आश्रय नहीं लिया। छपे हुए रजिस्टर, छपे हुए व्यवस्था-पत्र का आप के यहां सर्वथा अभाव था। आपके औषधालय से प्रतिदिन पचासों गरीब मुफ्त औषध पाते थे, पर आपने उनकी गणना का कभी रजिस्टर नहीं रक्खा। आपका व्यवस्था-पत्र देशी सफेद कागज का रहता था।

आयुर्वेद-सेवा के काम में आप अपने कष्ट को कष्ट नहीं समझते थे। इसी निमित्त से आयुर्वेद सम्मेलनों में प्राय: ही सम्मिलित होते थे। सुदूर लंका तक की यात्रा आपने सम्मेलन के ही निमित्त से की। आपही की प्रेरणा या प्रयास का फल समझिये कि जयपुर, फतहपुर, बीकानेर, जोधपुर ऐसे अकले राजपूताना में सम्मेलन के चार २ अधिवेशन हुए, वे भी सब अपनी २ विशेषताओं के साथ। जयपुर का अधिवेशन व्यवस्था के लिये आदर्शरूप था। बीकानेर, जोधपुर के सम्मेलन भी अपनी २ विशेषताओं से पूर्ण थे। यह सब आप ही के व्यक्तित्व का परिणाम था। आयुर्वेद-सेवकों में अब भी ऐसे महान् व्यक्ति गणना में आ सकते हैं पर उपर्युक्त सब गुणों का समन्वय उनमें हो ऐसा उदाहरण मिलना कठिन है। ये सब विशेषतायें इस बात की प्रतिपादक हैं कि आयुर्वेद-सेवा में स्वामीजी का विशेष स्थान था। आपका अभाव सामान्य अभाव नहीं है। आप के न रहने से आयुर्वेद की जो क्षति हुई है निकट भविष्य में उसका परिहार होना कठिन है।

सम्प्रदाय सेवा

स्वामीजी के महान् व्यक्तित्व से 'दादूपन्थी सम्प्रदाय' की जो कीर्ति प्रसारित हुई वह तो हुई ही। इसके अतिरिक्त करीब बीस वर्ष स्वामीजी ने सम्प्रदायोन्नति में क्रियात्मक भाग भी लिया। शिक्षा की न्यूनता के प्रत्याख्यान के लिये सर्व प्रथम 'दादूमहाविद्यालय' की स्थापना का आयोजन किया। उसके पश्चात् बराबर विविध विचारों द्वारा भी, साधु समुदाय में आई हुई कमियों को परिहार का प्रयत्न जारी रक्खा।

स्वामीजी न्यायप्रिय व्यक्ति थे। न्याय से विपरीत व्यवहार आपको अच्छा नहीं लगता था। साधुओं में दिनों दिन व्यक्तिगत प्रधानता की वृद्धि हो रही थी। कभी २ व्यक्तिगत विचार व्यक्ति तक ही सीमित न रह कर सामूहिक हित के विपरीत परिणाम पैदा करने वाले भी होते थे। ऐसी स्थिति में जिन व्यक्तियों ने इस प्रकार के विचारों का विरोध किया, स्वामीजी ने उनके विरोध को उचित समझा और न्यायोचित सहयोग दिया शिक्षा तथा साधुता की कमी के कारण साधुओं के कई प्रमुख स्थान नष्ट हो गये तथा नष्ट हो रहे थे। इसका स्वामीजी को पूरा विचार रहता था। आपने सम्प्रदाय के कई प्रमुख व्यक्तियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। आप की तीव्र इच्छा थी कि यह सम्प्रदाय नित्य २ होने वाली अपनी इस हानि का कोई न कोई समुचित उपाय करे। स्थानों को रक्षा का कोई समुचित उपाय न हुआ तो सम्प्रदाय का यह अङ्ग थोड़े ही समय में बहुत कमजोर हो जायगा। आप की राय थी कि सम्प्रदाय के अधिकांश स्थान उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण नष्ट होते हैं। अतः इस प्रचलित परम्परा में कि, जो शिष्य हो वही चाहे योग्य हो या अयोग्य स्थान का मालिक बने, संशोधन किया जाय। इसके लिये पहली बात तो यह है कि शिष्य को योग्य बनाया जाय। यदि ऐसा न हो सके तो शिष्य को सर्वाधिकार न दिये जावें। अथवा ऐसा किया जाय कि जो भी योग्य व्यक्ति विश्वास-योग्य हो, चाहे वह अपना शिष्य हो या न हो, उसको स्थान का अधिकार दिया जाय। अन्यथा स्थानों की रक्षा सम्भव नहीं। आप ऐसी बातें कहते ही थे सो बात नहीं। आपने स्वयं इन विचारों को कार्यरूप में लाकर सम्प्रदाय के समक्ष आदर्श उपस्थित किया। ट्रस्ट का निर्माण तथा स्वामी जयरामदासजी को अपने स्थान का उत्तराधिकारी बनाना यह आपके विचारों का क्रियात्मक रूप है। इन पिछले दिनों तो आप

का ध्यान इस बात की ओर प्रायः ही जाता था। साधुओं का जब जब प्रसंग आता या कोई स्थान सम्बन्धी ऐसी घटना सामने आती तो आप तुरन्त इस बात को दोहराया करते। आपके इन विचारों का प्रभाव पर्याप्त रूपमें उन व्यक्तियों पर हुआ है जो सम्प्रदाय में अगृणी हैं। विचारशील व्यक्तियों का ध्यान इस कमी की ओर आकर्षित होगया है। वे रास्ता ढूंढते हैं, सोच रहे हैं कि कौन सा ऐसा उपाय अपनाया जाय जो सामूहिक रूपसे व्यवहार में आसके। इस तरह स्वामीजी ने शिक्षा-दान, प्राचीन साहित्य के संरक्षण, तथा सामूहिक हितों के विचार, विनिमय द्वारा सम्प्रदाय की विशेष सेवा की, जो चिर स्मरणीय रहेगी।

चरित्र तथा स्वभाव

स्वामीजी के चरित्र के विषय में क्या लिखा जाय। आप से परिचित व्यक्तियों से यह छिपा नहीं है कि आप कितने उच्च चरित्रवान् थे। वैद्यक आपका व्यवसाय था। आप को नित्य ही सैंकड़ों स्त्री पुरुषों की चिकित्सा करनी पड़ती थी। पर आपने जिस बात के लिये अध्ययन काल में अनिच्छा प्रकट की उस अनिच्छा को आजीवन सतर्कता से निबाहा।

वैभव, प्रतिष्ठा, सम्मान सब कुछ आपको प्राप्य था। सब प्रकार की अयाचित प्रचुर भोगसामग्रियों की कोई कमी न थी। ऐसी स्थिति में आचरण को सुरक्षित बनाये रखना सरल काम नहीं। काम-विकार की व्यापकता तथा प्रभाव कितना प्रबल होता है यह प्रत्येक मानव-प्राणी भली प्रकार जानता है। इस के प्राबल्य का दमन करना, इस के आघात से अपने को सुरक्षित रखना किसी विशिष्ट सात्त्विक पुरुष का

हो कार्य है। स्वामीजी इसमें पूरे और सच्चे उतरे। आप का बाल्य-काल जैसे स्फटिक की तरह निष्कलङ्क रहा वैसे ही युवावस्था भी। आप आजन्म तथा आजीवन ब्रह्मचारी थे। इस दृढ तथा पुनीत चरित्र के कारण ही आप के व्यक्तित्व की असाधारण महिमा थी। आप के समक्ष आने वाले व्यक्ति आप के प्रभाव से प्रभावित हुए विना नहीं रहते थे। आप केवल नाम के साधु नहीं किन्तु वस्तुतः साधु पुरुष थे। आप का उदात्त चरित्र इस का स्वयं प्रमाण था।

जयपुर तथा साधुसमाज को इस बात का गौरव है कि उन्हों ने ऐसे चरित्र संकट के समय में ऐसे महान् चरित्रवान् व्यक्ति को जन्म दिया। शास्त्रों में शील की कितनी महिमा है! मनुष्य में अनेक गुण होते हैं पर उनमें शील तथा सत्य का अपेक्षाकृत सब से ऊंचा स्थान है। शील के विना और गुण कितने ही क्यों न हों, यदि शील नहीं है तो उन गुणों का महत्त्व बहुत घट जायगा। अपर गुण सामान्य हैं पर शील के साहचर्य्य से वे भी असाधारण प्रतीत होते हैं। शील ही मनुष्य का भूषण माना गया है। स्वामीजी इस भूषण से पूर्णतया विभूषित थे।

स्वभाव

स्वामीजी के स्वभाव में कई विशेषतायें थीं। उनका परिचय स्वामीजी से मिलने वाले को सहसा नहीं होता था। स्वामीजी के स्वभाव का ठीक २ परिचय न होने के कारण बहुत से लोग भ्रान्त धारणायें भी बना लिया करते थे। यदि आप के स्वभाव का परिचय होता तो उन व्यक्तियों को अपनी धारणाओं की आशंका तक नहीं हो सकती थी। पर यह कैसे होता। सैंकड़ों आदमी स्वामीजी से प्रतिदिन मिलते थे।

उन का मिलना निमित्त विशेष को ही लेकर होता था। ऐसी स्थिति में स्वामीजी का जैसा व्यवहार उनके सामने आता वैसा ही वे आप को समझते थे। प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में कुछ भिन्नता होती है। जब तक उस भिन्नता का यथार्थ ज्ञान न हो तबतक उस व्यक्ति के स्वभाव का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

स्वामीजी के स्वभाव की विशेषतायें, अनवरत आपके सहवास में रहनेवाले व्यक्तियों को भी शायद ही पूर्णतया समझ में आई हों; क्योंकि आपका व्यावहारिक जीवन इतना संयत तथा इतना गाम्भीर्ययुक्त था कि उसको ठीक २ समझ लेना सामान्य बुद्धिवाले व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर था। मैं इस विषय में यथार्थ ही लिख रहा हूँ, यह नहीं कह सकता। हाँ, मुझे स्वामीजी के सन्निकर्ष में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है पर केवल इसी से आप के स्वभाव का यथार्थ विवेचक मैं नहीं हो सकता। मैं अपनी समझ तथा दृष्टिकोण के आधार पर ही इसका विवेचन कर रहा हूँ।

मितभाषण

स्वामीजी प्रारम्भ से ही मितभाषी थे। आप विना मतलब बात करना अनुचित समझते थे। अनावश्यक कथनोपकथन में समय लगाना तो आपको साध्य था ही नहीं। बाल्यावस्था में ही गुरुजी से आपका वियोग हो गया था। दूसरे आप बाल्यावस्था में ही अध्ययन के काम में लग गये थे। अतः घर पर जो आपके अभिभावक या संरक्षक थे उनको आपके प्रति कथनोपकथन का काम ही नहीं रहता था। संकोच के कारण आप वैसे बात चीत करने के आदी नहीं थे। अध्यापन तथा

चिकित्सा आपके मुख्य काम थे, जिनमें बोलने ही का प्रायः काम रहता है। फिर भी स्वामीजी के इस स्वाभाविक गुण (मितभाषण) में कोई अन्तर नहीं आया। आप में मुखरता का सर्वथा अभाव था। कई बार अच्छे २ प्रतिष्ठित व्यक्ति स्वामीजी से मिलने आते। उनकी धारणा रहती कि स्वामीजी उनसे पर्याप्त समय तक बात-चीत करेंगे। किन्तु वहां पहुंचने पर सामान्य तथा आवश्यक बात-चीत से अधिक का अवसर नहीं आता था। आप कम से कम वैद्यसम्मेलन के १५-१६ अधिवेशनों में सम्मिलित हुए, पर औरों की तरह प्लेटफार्म पर खड़े होकर अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करते हुए उनको शायद ही कभी देखा हो। यदि कभी ऐसा मौका आ ही गया कि आपको सभामंच पर कुछ बोलना हुआ तो जितना सा कथन मतलब का होता उतना ही कह दिया। आपके पास बड़े २ विद्वान् तथा विशिष्ट व्यक्ति भी मिलने आते ही रहते थे पर वे अनावश्यक बात-चीत से अपना वैदुष्य प्रदर्शित करने में असफल ही रहते थे। इस से कोई २ समालोचक आपके ज्ञान में सन्देह भी करते पर इसका आप पर कोई असर नहीं होता था।

बहुत से रोगी इसी लिये असमंजस में पड़ जाते थे कि स्वामी जी ने उनसे अच्छी तरह बातचीत ही नहीं की तो इलाज कैसे करेंगे। बहुत से आत्माभिमानी इस बात से असन्तुष्ट भी हो जाते थे कि स्वामी जी ने उनके साथ मामूली सी ही बात-चीत क्यों की। स्वामी जी का यह व्यवहार अपरिचित व्यक्तियों के ही साथ होता हो यह बात नहीं। परिचित से परिचित व्यक्ति के साथ भी आपका व्यवहार ऐसा ही परिमित रहता था। जो कुछ आवश्यक बात होती उस को सुन लिया और उसका उत्तर दे दिया। फिर औपचारिक तरीके से उनसे व्यर्थ की बात की

जाय इसका वहां सर्वथा अभाव था। वे काम में संलग्न हों या काम से विरत. फिर भी अनावश्यक कथनोपकथन में उनकी प्रवृत्ति होती ही नहीं थी। कई बार इस स्वभाव के कारण अच्छे अच्छे समझदार व्यक्तियों को यह धारणा हो जाती थी कि स्वामीजी हमारी तो उपेक्षा करते हैं, किन्तु वस्तुत: बात ऐसी नहीं थी। स्वामीजी की यह स्वाभाविकता करीब पचास वर्ष की आयु तक इसी रूप में चलती रही। आगे जाकर इसमें थोड़ा सा फेरफार हुआ था पर वह बहुत कम। स्वामीजी का यह स्वभाव उचित था या अनुचित, इसका निर्णय दृष्टिभेद से भिन्न भिन्न हो सकता है. पर यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि उनका यह स्वभाव उन्हें निन्दा स्तुति से बचाये रखता था। अधिक बोलने का स्वभाव हो तो उसमें फिर कई अनावश्यक बातों पर बोला जाता है जो कि कभी कभी बिलकुल अनुपादेय परिस्थिति का हेतु बन जाता है। मितभाषी उन सब कटाक्षों तथा हानियों से बच जाता है जो बिना ज़रूरत के अधिक भाषण से सम्बन्ध रखती हैं।

सचाई—

स्वामीजी सत्य के अनुयायी थे। मिथ्या भाषण उन्हें बहुत ही बुरा लगता था। काम चाहे जैसा हो, चाहे उससे हानि हो या लाभ, मिथ्या-प्रवचन को वे हेय समझते थे। वे स्वयं इसका अधिक से अधिक पालन करते थे। उनको तो ऐसा अवसर ही क्यों आवे कि मिथ्या भाषण करें। फिर भी कई बार ऐसे मौके आ जाते थे कि किसी बात को बाबत उन से निवेदन किया जाता वे उसके बारे में अपना सत्यपक्ष अभिव्यक्त करना उचित नहीं समझते, पर उस स्थिति में वे मिथ्या का आश्रय नहीं लेते थे। ऐसी स्थिति में उनका आश्रय मौन था। जो बात

अभिव्यक्त करने की नहीं होती थी जिस रूप में अभिव्यक्त करने की न होती उसकी बाबत वे चुप हो जाते थे।

दो तीन बार फेर फार के पूछा जाता, फिरभी उसका कोई उत्तर नहीं मिलता, तब हम लोग यही समझ लेते कि इस विषय में आप कोई राय देना संगत नहीं समझते हैं। जहाँ विचार भेद रहता वहाँ स्वामीजी सत्य का संरक्षण इसी प्रकार करते थे। झूंठ बोलने वाले आदमी से वे उदासीन रहते थे। वैसे व्यक्ति पर कभी भरोसे का काम नहीं छोड़ते थे। यदि उनके सान्निध्य में रहने वाला व्यक्ति उनके समक्ष झूंठ बात कह देता या झूंठ से प्रवंचना करता और उन्हें यह ज्ञात हो जाता तो वे बहुत क्रुद्ध हुआ करते थे। वे इस बात के बहुत खिलाफ थे कि किसी भी अवस्था को, वह चाहे जैसी हो-मिथ्या से आवृत कर दूसरे को धोखा दिया जाय। यदि उनके साथ कोई व्यक्ति अपने अभ्यासवश झूंठ का आश्रय ले व्यवहार करता, तो जब तक उन्हें उसकी झूंठ की प्रतीति नहीं होती तब तक तो उसका काम चल जाता पर जब उन्हें ज्ञात हो जाता कि यह व्यक्ति तो झूंठा है और अबतक झूंठ ही का आश्रय ले तुम्हारे समक्ष आया था तो आगे से फिर उस व्यक्ति से कोई विशेष व्यवहार नहीं रक्खा जाता उनकी यह स्वाभाविकता बिना फेरफार के आरंभ से अन्त तक इसी रूप में रही।

दृढनिश्चय—

स्वामीजी का निर्णय बड़ा दृढ़ होता था वे निश्चय करने से पहिले उस बात पर खूब विचार करते थे। उनका प्रत्येक काम धैर्यपूर्वक पूर्णविचार के साथ होता था। जो कुछ विचार कर के ऊहापोह के

पश्चात निर्णय हो जाता उसमें फिर फेरफार का काम नहीं रहता। वे अपने निश्चय पर अटल रहते थे चाहे फिर उस निश्चय से कैसी ही कठिनाई क्यों न आये, वे उसका परिवर्तन नहीं करते थे। दो उदाहरणों से यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

हिन्दू यूनिवर्सिटी के आयुर्वेदविभाग में प्रिंसिपल की आवश्यकता थी। मालवीयजी महाराज का स्वामीजी से बहुत परिचय था। वे महाराज की योग्यता को जानते थे। उनकी इनमें पूर्व श्रद्धा भी थी। मालवीयजी का प्रबल आग्रह था कि स्वामीजी उक्त स्थान पर पधारें। उनने इस विषय में काफी लिखा पढ़ी की तथा स्वयं मिलने को भी शायद आये। मतलब, वे आग्रहपूर्वक जितना भार स्वामीजी पर डाल सकते थे, डाला। पर स्वामी जी का जो पूर्व निश्चय था कि अध्यापन का कार्य यहीं जयपुर में अमुक समय तक करना, वे उससे बिलकुल विचलित नहीं हुये।

मालवीयजी महाराज जैसों का आग्रह, हिन्दू यूनिवर्सिटी जैसी संस्था, आयुर्वेद का विभाग, स्वामीजी जैसे महान पुरुषों का सहयोग यदि उक्त संस्था को प्राप्त होता तो आयुर्वेद की शिक्षा पर और भी प्रभावशाली असर पड़ता। किन्तु यहां तो जो कुछ निश्चय किया जा चुका था उसका परिवर्तन असंभव था। मालवीयजी को तथा स्वयं स्वामीजी को भी इसका पूरा विचार रहा, पर उनके धैर्य ने उस विचार का परिहार कर दिया।

सम्वत् १९९० में स्वामीजी की आयु साठ साल की हुई। आग बन कर तैयार होगया। स्वामीजी ने सहसा व्यक्त किया कि अब वे अध्यापन का कार्य नही करेंगे। शिक्षाविभाग के अधिकारीवर्ग तथा शिष्यवर्ग का पूर्व अनुरोध तथा निवेदन था कि आप अभी कुछ समय और

काम करें। स्वामीजी के स्वास्थ्य तथा कार्यशक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। पर उनका संकल्प अटल था। उनके स्थान आदि की बात को लेकर कई प्रकार के प्रश्न सामने आये। विशेषतः शिक्षा पाने वाले छात्रों का हित। हम सबने कई विभिन्न परिस्थितियों को सामने रख कुछ समय और काम करने की विपुल प्रार्थना की, पर वहाँ तो सुनाई की बात ही नहीं। जब सब ओर से अधिक आग्रह होने लगा, कालेज के अध्यापक-वर्ग, स्वामीजी के सहयोगी पूज्य श्री अध्यक्षजी महाराज आदि सब ने दबाव डाला, तब कोई चालीस वर्ष पहिले का लिखा हुआ एक पत्र निकाला जिसमें आपने भावी कार्यक्रम का निर्णय कर रक्खा था, उसमें अभिव्यक्त था कि साठ साल की आयु होने पर कार्य परित्याग कर दिया जाय। उसको देख सब अवाक् रह गये। अब और कहने का क्या स्थान था? स्वामीजी ने स्तीफा देही दिया और कार्य से अवकाश ग्रहण कर लिया।

ये दो उदाहरण उनके दृढ़ निश्चय के कैसे द्योतक हैं इसके कहने की आवश्यकता नहीं। ये उदाहरण मात्र हैं। ऐसे कई उदाहरण हमारे सामने आये हैं कि जिनमें उनके निश्चय की दृढता स्पष्ट अभिव्यक्त होती थी। प्रत्येक मनुष्य अपने निश्चय पर ऐसा दृढ़ रहता हो यह कह सकना कठिन है। थोड़े से प्रलोभन तथा थोड़ी सी कठिनाई आते ही सैकड़ों मनुष्य अपने निश्चय को बदल देते हैं, ऐसे उदाहरण प्रायः सामने आते ही रहते हैं। स्वामीजी जैसे दृढ़ निश्चयी व्यक्तियों के उदाहरण बहुत कम मिलेंगे।

क्षणिक कोप—

स्वामीजी के स्वभाव में एक भिन्न प्रकार की तेजी थी। उनका जीवन एक नियत धुरी पर चलता था। निमटना, नहाना, खाना, सोना,

उठना ये सब उनके व्यावहारिक काम समय तथा स्थिति से बंधे हुये थे। मैं पहले कह आया हूँ कि स्वामीजी का शरीर बहुत ही सुकुमार था। उनकी शारीरिक कोमलता थोड़ी सी प्रतिकूलता होते ही प्रतिबन्धक बन जाती थी। अतः उनके इन व्यवहारिक कामों में यदि थोड़ा सा भी हेर फेर होजाता तो वे अप्रसन्न हो जाते थे। उनके नियमित काम को काम करनेवाला असावधानी से ठीक पूरा न कर पाता तो वे अप्रसन्न हो जाते थे। पर यह उनकी अप्रसन्नता स्थिति से सम्बन्ध रखती थी। जो आदमी उनके सेवाकार्य में नियुक्त रहते थे इस कोप का सामना उन्हीं को करना पड़ता था। वैसे व्यावहारिक जीवन में वे बहुत ही कम क्रोध करते थे। हाँ, उनके सान्निध्य में रहने वाले व्यक्ति जिन पर कि कुछ जिम्मेवारी का काम रहता था, उन पर भी वे कभी कभी जब कि वे अपने काम में असावधानी करते या अपनी जिम्मेवारी को ठीक तरीके से पूरा न करते तब कुपित होते थे। पर उनका वह कोप बहुत ही थोड़े समय रहता था। दूध के उफान की तरह उनको यह तरंगसी आती थी। जो आदमी नवीन ही उनके सामने इस स्थिति में आता उसे उनके नाराज होनेका बहुत ही विचार पैदा हो जाता पर स्वामीजी के स्वभा से जो परिचित हो चले थे वे उस नाराजगी को विशेष महत्व नहीं देते थे वे जानते थे कि उनका यह गुस्सा केवल इसी बात के लिये है कि वे अपने काम में असावधानी न करें। वे वैसे चाहे जिस पर नाराज होते भी नहीं थे। सामान्य व्यवहारवाले व्यक्ति की महती भूल होजाने पर भी वे उसपर अधिक विचार नहीं करते थे। उनके कोपभाजन वे ही व्यक्ति विशेष होते थे जिनपर उनको अनुग्रहदृष्टि रहती थी। उनको स-चेष्ट रखने के लिये उनका वह गुस्सा होता था। हम में से कई व्यक्तियों से न मालूम, कितनी और कैसी कैसी गलतियें हुई हैं पर उनकी उस वास्तविक अनुकम्पा में कभी अन्तर नहीं आया। उनके आन्तरिक हित

और दया पर उस कोपका कभी कोई प्रभाव नहीं होता था। अपरिचित व्यक्ति यदि उनकी नाराजगी की स्थिति को सहसा देखता तो उसकी यह धारणा बन सकती थी कि जिस व्यक्ति पर ये कुपित हुये हैं उस पर अब पुनः प्रसन्न होंगे यह कठिन बात है। पर थी बात सर्वथा उलटी अर्थात् वे किसी पर कितने भी अप्रसन्न क्यों न हुये हों थोड़े समय बाद ही उनका व्यवहार वैसा का वैसा हो जाता था जैसा कि प्रसन्न दशा में होता। महात्माओं को प्रणिपात प्रसन्न कहा गया है, पर यहाँ तो उसकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

मितव्ययिता—

स्वामीजी ने जो कुछ वैभव प्राप्त किया वह सब अपने पुरुषार्थ से। परम्परा से उनको कुछ ऋण प्राप्त हुआ था जिसका उनने सर्व प्रथम परिशोध किया। वे जीवन के प्रारम्भ से ही मितव्ययिता को अपना लक्ष्य बना चुके थे। अनावश्यक व्यय करना उनको भाता ही नहीं था। आवश्यक व्यय में कभी संकोच नहीं करते थे। बहुत से आदमियों का यह स्वभाव होता है कि जब तक आय कम होती है मितव्ययी रहते हैं। आय जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे उनका व्यय भार भी बढ़ता जाता है। पर स्वामीजी में यह बात नहीं थी। उनने अपने शरीर के लिये इस सिद्धान्त में कभी शिथिलता नहीं आने दी। हाँ, औषधालय की कार्यवृद्धि में व्यय की वृद्धि होती गई वह तो अनिवार्य थी। उनको न तो किसी प्रकार का शोख था, न वे किसी शोख में कुछ व्यय करते।

उनका यह ढंग देख बहुत से आदमी आपको कंजूस तक कहने का साहस कर जाते थे, पर वे अर्थशास्त्र के इस मूल सिद्धान्त से अपरि-

चित थे जिसका उद्देश्य मितव्ययिता है। उनकी इस वास्तविक मितव्ययिता की वृत्ति ने ही उनको वैभवशाली बनाया और उपार्जित किये हुये धनको सत्कर्म में लगाया। वे प्रायः इस बात का निर्देश किया करते थे कि पैसे का उपयोग, पैसे को पैदा करने वाला ही जानता है। बिना पैदा किये जिसको पैसा मिलजाता है उसको खर्च करने का यथार्थ पता नहीं रहता। अनावश्यक व्यय की कोई भी बात उनके सामने आने पर वे उसका प्रबल विरोध किया करते थे। उनका यह स्वभाव उपादेय ही रहा। इसी का परिणाम है कि उनने अपना उपार्जित किया हुआ पूरा का पूरा द्रव्य उपादेय कामों में लगाया।

निरभिमानता और सादगी—

स्वामी जी में अभिमान लेशतः भी नहीं था। उनका मितभाषण तथा संकोच चाहे आने वाले व्यक्ति को भ्रान्त कर दे यह दूसरी बात थी। उनसे मिलने वाले मनुष्यों में हर एक इस बातकी साक्षी देगा कि वे कितने सरल थे। उनके जैसे व्यक्तित्ववाले व्यक्तियों का घण्टों मिलना कठिन होता है। पर यहां चाहे जब कोई भी आकर मिल सकता था। गरीब से गरीब, बालक, वृद्ध, स्त्री, धनी, दीन, सबके लिये उनका दरवाजा खुला था। वे प्रत्येक 'आगत' व्यक्ति से तुरन्त उसके आने का कारण ज्ञात कर लिया करते थे। किसी को किसी प्रकार की रोक टोक नहीं थी। समय असमय आये हुये मनुष्य को भी सर्वथा निराश नहीं लौटना पड़ता था। जयपुर के अनेकों ऐसे व्यक्ति आज मौजूद हैं जिनकी स्थिति पर विचार किया जाय तो यह निर्णय करना पड़े कि इस स्थिति वाले व्यक्ति से क्या वैद्यजी जैसे पुरुष बात भी करते होंगे। पर उनके साथ वैद्यजी

का ऐसा व्यवहार था जैसे कि किसी समानस्थिति वाले पुरुष के साथ। उनके पास अभिमान करने लायक सभी बातें थीं पर उनने अपने को इससे सर्वदा दूर ही रक्खा।

वेषभूषा वैद्यजी की बहुत ही सादी थी। इसमें वे अध्ययनावस्था ही से परिष्कृत थे। आचार्य उत्तीर्ण होने तक उनने बगलबन्धी और टोपी के अतिरिक्त और कोई टीपटाप का वस्त्र धारण ही नहीं किया। जब आपकी नियुक्ति प्रधानाध्यापक के स्थान पर होगई तो टोपी की जगह सफेद पगड़ी और बगलबन्धी की जगह लम्बी अंगरखी ने स्थान ले लिया। स्वामीजी का सामान्यतया यही वेष था। शीतकाल में गर्म कपड़े की अंगरखी रहती थी। उपार्जन के हिसाब से स्थिति में दिन दिन अन्तर पड़ता ही गया। आने जाने का भी काम राजा महाराजाओं तक पड़ता था, पर आपकी वेष भूषा में राजसी गुण का प्रभाव पड़ा ही नहीं। और तो और, जयपुर महाराज के दरबार में भी आप को जाना पड़ता था, पर वहां भी आपके पहनावे पर कोई ऐतराज नहीं उठाया गया। अधिकांश लोग वेष भूषा पर पूरा जोर लगाते हैं। वे पद तथा प्रभाव की महत्ता के संरक्षण का इसको भी एक हेतु मानते हैं, पर स्वामीजी के तो इसी वेष में पद और महत्ता के प्रभाव दिन दिन अधिकाधिक ही होते गये। स्वामीजी की यह विशेषता भी जन्मजात थी।

निर्लोभिता—

बहुत से व्यक्तियों का ध्यान था कि वैद्यजी लोभी हैं। पैसे का परित्याग शायद इनसे कम होता है पर उनका यह अनुमान बाहरी ढंग को देख कर ही था। वे व्यक्ति अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली आन्तरिक अवस्था से परिचित नहीं थे। वस्तुतः वैद्यजी निर्लोभी थे। उनने पैसे

को अधिक से अधिक कमाने का कभी प्रयत्न नहीं किया। वे अयाचित अनायास जो कुछ प्राप्त होता था, उसी में सन्तुष्ट रहते थे। अनेकों बार ऐसे प्रसङ्ग आये थे कि पांच सौ तथा हजार प्रतिदिन की फीस के बुलावे और तार आते थे पर वे इन्कार कर जाते थे। वैसे वे केवल गर्मी की छुट्टियों में ही कलकत्ते बम्बई आदि शहरों में चले जाते तो प्रतिवर्ष हजारों की आय बढ सकती थी, पर वहाँ धन की लिप्सा इस रूप की थी ही नहीं। उनने धन को जिस रूप में लगाया है वही इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि उन्हें पैसे का व्यामोह बिलकुल नहीं था। हजारों रुपये उनके इस रूप में थे कि जो आपसी व्यवहार में अटके हुए कामों पर दिये गये थे, पर वापिस नहीं आये। मुकदमे तथा जोर लगाने से वे आभी सकते थे पर स्वामीजी ने किसी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया वे सब के लेन देन के रुपये छोड़ते ही जाते यह बात तो नहीं थी, न ऐसा हो ही सकता। पर रुपयों ही के कारण किसी से व्यवहार बिगड़ने का अवसर आया तो वहाँ रुपयों को छोड़ दिया, व्यवहार को नहीं बिगाड़ा। क्या कोई लोभी मनुष्य इस तरह हाथ से दिया हुआ पैसा छोड़ सकता है। वैद्यजी का हजारों का लेन देन ऐसा था, पर एक भी घटना ऐसी सामने नहीं आयी है कि जिससे उपर्युक्त तथ्य से विपरीत विचार बनाया जाय।

दया और क्षमा।

स्वामीजी का हृदय कर्तव्य कर्म के लिये परम दृढ था, पर वैसे उनका हृदय बहुत ही कोमल था। किसी का कष्ट देख वे दुःखी हुए बिना नहीं रहते थे। उनकी आन्तरिक भावनायें करुणामय थीं। क्रूरता या कठोरता का निवास उनके हृदय में बिलकुल भी नहीं था। उनके

वैद्यक का काम था। अतः प्रायः अधिकांश मनुष्यों का उनसे व्यवहार पड़ता रहता था। दुनिया में ईर्षा द्वेष की प्रवृत्ति वाले मनुष्यों की कमी नहीं। दूसरे के उत्कर्ष तथा वैभव से अकारण कष्ट पाने वाले भी सैंकड़ों मनुष्य होते हैं। अपने अवगुणों को सार्थक करने के लिये या अपनी कमजोरियों का औचित्य प्रतिपादन करने के लिये बहुत से आदमी अग्रणी प्रतिष्ठित व्यक्तियों में ऐसे दोषारोपण किया करते हैं। स्वामीजी से भी ऐसे व्यक्तियों का सामना हो ही जाता था, पर उनने कभी किसी पर उनके कृत्य को जान जाने पर भी कठोरता का व्यवहार नहीं किया। जो प्रायः निन्दा आदि करने में लगे रहने वाले व्यक्ति थे वे भी कष्ट आ पड़ने पर वैद्यजी के समक्ष उपस्थित होते तो वैद्यजी उनकी सब स्थिति जानते हुए भी अपनी दयालुता से उन पर उसी तरह का ध्यान देते जैसा कि वे देसकते थे। उनकी किसी से कोई शत्रुता नहीं थी। चाहे जैसा अपराध करने वाला व्यक्ति उनके समक्ष चला गया वे उसे क्षमा प्रदान कर ही देते थे। उनने किसी से बदला लिया हो ऐसा न देखने में आया और न सुनने में। दो तीन ऐसी घटनायें तो मेरे समक्ष में भी हुइ थीं कि दूसरा आदमी इस स्थिति वाला होता तो वह विना उसका समुचित प्रत्याख्यान किये विना कभी नहीं रहता, किन्तु वैद्यजी ने, वैसा करना तो दूर रहा, उस पर विशेष विचार भी नहीं किया। वैद्यजी 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' के उदाहरण थे।

काम करना कहना नहीं

वैद्यजी कोई भी काम करते उसको तब तक प्रकट नहीं किया करते थे जब तक कि उसके होने का पूरा पूरा ढंग और विश्वास न हो जाता। वे जो कुछ उन्हें करना होता उसको प्रकाश में लाते ही नहीं थे। लोग

काम तो करते कम पर कहने का पार नहीं रखते ऐसे बहुत होते हैं। विशेषत आज के जमाने में यह दोष पठित समाज में भी आगया है कि जैसे तैसे प्रसिद्धि प्राप्त की जाय। प्रसिद्धि का यही साधन मान लिया गया है कि बड़ी बड़ी बातें कहना, बड़े बड़े विचार रखना, बड़ी बड़ी स्कीमें बनाना, पर स्वामी जी इससे सर्वथा दूर रहते थे। उनका यह ध्येय था कि जो भी काम करना हो वह काम बनने की सूरत पर न आजाय तब तक उसको प्रकाश में नहीं लाना चाहिये। क्योंकि यदि कदाचित् किसी विशेष विघ्न बाधा से वह काम नहीं हो सके तो मनुष्य का कथन मिथ्या होता है। अतः जो काम करना हो वह किया ही जाय न कि उसके करने का डिण्डिमघोष किया जाय।

विचारक—

स्वामी जी परम विचारक पुरुषों में से एक थे। वे प्रत्येक काम पर इतना विचार करते थे कि साधारण तो क्या, असाधारण बुद्धिवाले व्यक्ति भी वहाँ तक नहीं पहुंच पाते थे। उनके जितने भी काम हुए सब इसी शैली से हुए, अतः उनके विचारे हुए कामों में प्रायः अधिकांश पूर्ण सफल हुए। ऐसा एक भी कार्य का उदाहरण सामने नहीं है जिसको कि उनने विचार कर किया और वह निरर्थक सिद्ध हुआ हो।

उनने अपनी स्थिति को इस उत्तम रूप में पहुंचाया, उसमें सब से अधिक सहायता उनकी विचारसरणी की है। काम चाहे छोटे से छोटा ही क्यों न होता, विना ठीक विचारे वे कभी उसे प्रारम्भ ही नहीं करते थे। जो भी काम उनके सामने रक्खा जाता सहसा वे उस पर कभी संमति नहीं दिया करते थे। उनका इस विषय में सबसे

पहिला यही उत्तर मिला करता था कि "इस पर अच्छी तरह विचार कर लिया जाय"। वे अपनी राय पहिले न देकर औरों ही से सम्मति लिया करते थे। जब विवेचनीय विषय पर औरों की सम्मति मिल जाती तब कहीं आप अपनी राय प्रकट करते और वह सम्मति उन सब संमतियों से कुछ न कुछ विलक्षण ही निकलती। ट्रस्ट के निर्माण और उत्तराधिकारी के प्रश्नों पर कई बार ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण देखने को मिले। उनने अपने जीवन का एक ढांचा ही तैयार कर लिया था। सब काम उसी के अनुरूप करते थे। बहुत से योग्य से योग्य व्यक्ति देखने में आयेंगे, पर उनके कामों को देखा जाय तो अधिकांश में विशृंखल मिलेंगे। स्वामीजी के किसी भी काम को आप देखें, चाहे उनका घरू हो, चाहे संस्था सम्बन्धी, सब शृङ्खलाबद्ध तथा व्यवस्थित मिलेंगे। यह सब उनकी विचारधारा ही का परिणाम था। उनकी सूझ अनोखी थी। वे हर काम के विपरीत अंश की उस परिस्थिति तक पहुंच जाते थे कि जिससे कोई भी बात ऐसी बच न जाती जो आगे जाकर असुविधा पैदा करे। उनकी यह शक्ति विलक्षण ही मानी जायगी।

उनकी विचारधारा सब ओर पहुंचती थी। न केवल चिकित्सा-सम्बन्धी कामों में प्रत्युत धर्म, राजनीति, समाजनीति, गृहप्रबन्ध, लोक-व्यवहार आदि जीवन के सभी आवश्यक विषयों पर वे अधिकार रखते थे। देशकी परिस्थिति से भी वे अनभिज्ञ नहीं थे। देशकी दरिद्रता और अस्वास्थ्य की ओर उनका पूरा विचार पहुंचता था। वे पूर्णरूप से राजभक्त थे, लेकिन देश के दुःखपरिहार की उचित योजनाओं के समर्थक भी थे।

देश के कई विशेष अग्रणीय व्यक्ति उनकी चिकित्सा में रहे हैं। जिनमें बिट्ठल भाइ पटेल का नाम सर्वाग्रणीय है। उनकी चिकित्सा कई

मास तक स्वामीजी ने बड़ी तत्परता से की थी। माननीय मोतीलालजी नेहरू को देखने के लिये स्वामीजी प्रयाग भी पधारे थे, पर उस समय उनकी रोगावस्था उस स्थिति पर आगायी थी कि उसका प्रत्याख्यान अशक्य था। स्वामीजी ने इसका बहुत खेद माना। उनका ध्यान था कि यदि कुछ समय पहिले मुझे ज्ञात किया जाता तो यथाशक्य उपाय किया जाता। मालवीयजी से तो आपका घनिष्ठ सम्पर्क था ही। आप ही के कारण मालवीयजी "षोडशवैद्यसम्मेलन" के सभापति बने। मतलब वे केवल चिकित्सक ही थे यह बात नहीं है। उनका जीवन बहुत विस्तृत था। यह उनकी विचारशृंखला से बहुत स्पष्ट रूप से सिद्ध होजाता है। उनको बहुमुखी विचारधाराओं से यह मानना पडेगा कि वे एक विचारक थे।

धैर्य—

जिन व्यक्तियों को सब तरह की सुविधायें रहती हैं, उन व्यक्तियों में प्रायः धैर्य कम रहता है, क्योंकि उनकी सब आवश्यक बातें इच्छानुसार पूरी होती रहती हैं। धैर्यकी जरूरत अभाव तथा कष्ट में पडा करती है। वैभवशाली पुरुष के अभाव किस बात का, विना अभाव के कष्ट भी क्यों हो। अतः अधिकांश सम्पन्न पुरुष प्रायः ही न्यून धैर्य वाले होते हैं। किन्तु वैद्यजी में यह बात नहीं थी। या तो इसका हेतु यह समझा जाय कि वैद्यजी आरंभ में सामान्य स्थिति में पले थे। अतः आरंभिक जीवन में ही उनको धैर्य का सहारा लेना पड़ा, या यह उनका स्वाभाविक गुण था। चाहे जैसे समझा जाय पर वे थे अत्यधिक धैर्य सम्पन्न। अपनी आवश्यकता तथा शारिरिक कष्ट के कारण तो वैद्यजी को चाहे युवावस्था के वाद बहुत ही कम प्रतिकूल परिस्थिति का सामना

करना पड़ा हो, पर वैसे मानसिक विचारों की प्रतिकूलतायें तो कई बार होने का मौका आया ही था। पर उस समय वे बिलकुल विचल नहीं हुए। समय समय पर समाज, स्थान तथा संस्थाओं के कारण ऐसा वातावरण बनता रहता था जिसका प्रभाव मानसिक क्षेत्र में पर्याप्त पड़े, पर स्वामीजी ने सब स्थितियों को बड़ी शान्ति तथा धैर्य से गुजार दिया।

अन्तिम समय जब कि वे रोगशय्या पर थे, गर्मीका समय था, तथा रोगजन्य कष्ट भी था। वे गर्मी में प्राय: मध्यान्ह में बहुत ही ठण्डी जगह में अपना समय व्यतीत किया करते थे। पानी से खूब ठण्डे किये हुए पत्थरों तथा आंगन पर लेट कर ही वे गर्मी का मध्यान्ह बिताया करते थे। पर रुग्णावस्था में यह व्यवस्था कैसे बैठती। इधर यह दिक्कत उधर रोग की तकलीफ। पर क्या काब है कभी भी उनने किसी प्रकार की घबराहट जाहिर की हो। उनकी सुकोमल प्रकृति को देखते हुए यह दिक्कत उनके लिये सर्वथा असह्य थी पर उनने अपने धैर्य के बल से उसको उसी तरह सहन कर लिया जैसी कि अनुकूल स्थिति को। उनके धैर्य का यह परम परीक्षण था और वे उसमें अन्त तक सफल रहे।

कहाँ तक कहा जाय उनके स्वभाव की ये सब विशेषतायें उनकी अपनी थी। एक ही शरीर में इस तरह विविध उपादेयताओं का एकीकरण बहुत ही कम दृष्टिगोचर हुआ करता है। वे वैद्य थे। पर वे समाज धर्म, राजनीति सब के पूरे ज्ञाता थे। देश काल की परिस्थिति का उन्हें पूरा ज्ञान था। वे प्राचीनता के पूरे आदर्श पुरुष थे, फिर भी नवीनता की सब विशेषतायें भी उनसे दूर नहीं थी। वे पूरे धार्मिक वृत्ति के थे फिर भी उनमें सङ्कीर्णता का अशांश भी नहीं था। वे धनी थे, वैभवशाली थे, परम प्रतिष्ठाशाली थे, पर फिर भी सर्वसाधारण से

उनका स्नेह और व्यवहार किसी तरह भी कम नहीं था। उनकी सब खूबियें समझने के लिये परिष्कृत दिमाग चाहिये। हम साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति उनके अशेष गुणों को कहां तक ठीक ठीक समझ सकते हैं। उनकी कृतियें तथा उनका जीवन कहने को बाध्य करता है कि वे मनुष्य नहीं, देवता थे।

कार्यपरित्याग और ईश्वरचिन्तन।

साठ वर्ष की आयु होते ही उनने कार्य का परित्याग करदिया। उनके दो ही मुख्य काम थे, शिक्षा और चिकित्सा। दोनों ही से उनने अपना हाथ खींच लिया। कार्यपरित्याग के समय हम सब को जो उनकी सेवा में या उनके सांनिध्य में रहने वाले थे, एकत्रित कर यह कह दिया था कि हम अब कोई भी काम नहीं करेंगे। चिकित्सासम्बन्धी काम भी अब तक उद्देश्य रख कर किया जाता था, वह अब नहीं किया जायगा। बाहर कहीं भी जायेंगे नहीं। बीकानेरदरबार तथा बिड़लापरिवार इसके अपवाद हैं।

वैसा ही उनने किया। काम छोड़ने के बाद बागही में बिराजे। स्थानीय रोगियों को देखने जाना भी प्रायः बन्द करदिया। आवश्यकता विशेष को छोड़ स्थानीय रोगियों को भी देखने नहीं जाते थे। बाग में जाकर दिखाने वालों की औषधव्यवस्था करदेते थे। प्रतिदिन नियम से ईश्वरचिन्तन आरम्भ कर दिया गया था। सुबह चार बजे से ६॥ बजे तक, मध्यान्ह १॥ से ३॥ तक का समय नियमित ईश्वरोपासना में ही व्यतीत होता था। अन्तिम छः वर्षों तक यही क्रम रहा। संमेलन के अधिवेशन तथा बीकानेर को छोड़ और कहीं नहीं पधारे। इस तरह

नियमित तरीके से पूरा काम करके समय पर उससे अपना अनुबन्ध हटा लिया। ये छः वर्ष इनने अपनी आगे की तैयारी में ही लगाये। इन वर्षों में व्यावहारिक झंझटों से प्रायः ही अपने को दूर करते गये जिससे समय पर उनका अनुबन्ध व्यामोह का कारण न बने। उनने जो कुछ कर्तव्य था (उसे) यहीं पूरा कर लिया। आगे करने के लिये कुछ भी बाकी नहीं रक्खा।

इस तरह व्यावहारिक जीवन का कर्तव्य पूरा कर उपरति के मार्ग का अवलम्बन कर अन्तिम समय में एक ही धारणा को प्रबल किया और वह धारणा थी "ईश्वर चिन्तन" की। वह उनके निश्चयानुसार पूरी होती ही गई।

उत्तराधिकारी।

मैं पीछे लिख आया हूं कि सम्प्रदाय सम्बन्धी कामों में स्थानों की व्यवस्था सम्बन्धी काम पर उनका पूरा विचार रहता था। वह प्रश्न उनके अपने घर में भी था। भिवानी निवासी स्वामी जयरामदासजी सं० १९८० में जयपुर आयुर्वेद-अध्ययन के निमित्त स्वामी गोपालदासजी द्वारा भेजे गये। वे स्वामीजी के स्थानही में रहे। आयुर्वेद की आचार्य तक उनने स्वामीजी के सान्निध्य में ही शिक्षा प्राप्त की। शिक्षाप्राप्ति के पश्चात् वे कर्माभ्यास के लिये वहीं रहने लगे। स्वामीजी ने उनकी स्थिति को देख उचित पात्र समझा और अपने स्थान का कार्य भार धीरे धीरे सब उन्हीं पर डालते गये। सम्प्रदाय की रूढि से जयरामदासजी का कोई सन्निकट सम्बन्ध नहीं था। पर स्वामी जी तो इसी विचार के थे कि स्थान का भार योग्य व्यक्ति को दिया जाय। वह चाहे शिष्य हो या न हो। इसी सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत किया। स्वामीजी ने

प्रसन्नतापूर्वक स्वामी जयरामदासजी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया।

स्वामी जयरामदासजी का भिवानी में स्वतन्त्र स्थान है। वेही उसके उत्तराधिकारी हैं। पर उनने स्वामीजी के निर्देश का प्रतीकार न कर उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। वे आयुर्वेदाचार्य हैं। स्वामीजी के कार्यपरित्याग से पहिले ही उनने स्थानीय औषधालय का काम सम्भाल लिया था। कार्यपरित्याग के बाद से तो वे ही औषधालय के सञ्चालक हैं। वे योग्य चिकित्सक तथा स्वामीजी के अनुरूप शिष्य हैं। कालेज के आयुर्वेद विभाग में द्वितीय अध्यापक की जगह अध्यापन का कार्य भी करते हैं। शास्त्री की कक्षायें आपही पढ़ाते हैं। उनकी कार्यशैली तथा वैदुष्य को देखते हुये यही आशा होती है कि वे स्वामीजी की विमल कीर्ति में किसी प्रकार की कमी न आने देंगे।

इस तरह स्वामीजी ने उस चिन्ता से भी छुट्टी पाई जोकि सांसारिक जीवन में सबसे बड़ी चिन्ता मानी जाती है। स्वामीजी का यह आदर्श सम्प्रदाय के गण्य मान्य व्यक्तियों के लिये अनुकरणीय है। स्वामीजी ने इस प्रकार की व्यवस्था कर उचित सुधार को पूरा प्रोत्साहन दिया है। आशा है कि समाज के अन्य व्यक्ति इस पद्धति का अनुकरण कर अपने स्थानों की समुचित व्यवस्था करेंगे।

दान—

जिस प्रकार सद्वृत्ति तथा नेक नियति से स्वामीजी ने अर्थोपार्जन किया उसी तरह उचित तथा उपादेय कामों में उसको प्रदान किया। स्वामीजी के बड़े दान का विवेचन तो ट्रस्ट में आही गया। एकलाख नकद

और डेढ लाख के करीब स्थावर सम्पत्ति ट्रस्ट को दी गई है। इसके अतिरिक्त भी करीब तीसहजार का दान उनका और है जो कि विविध संस्थाओं तथा निराणा, सांभर, आमेर, हरिद्वार आदि साम्प्रदायिक स्थानों में दियागया है। उसके अतिरिक्त हजारों रुपये ऐसे भी हैं जिनका किसी को पता तक नहीं। विद्यार्थियों की सहायता तो आरम्भ ही से चली आती है। जब से स्वामीजी ने कुछ उपार्जन करना आरम्भ किया तब से दो चार छात्रों का खर्च तो स्वामीजी के साधारण सी बात थी। सम्वत् ७१ से ९२ तक तो मैंने ही इस स्थिति को बराबर देखा है। इसके व्यतिरिक्त वे और भी सहायता प्राइवेट ऐसे व्यक्तियों को देते रहते थे जिनको कि प्रकाश में सहायता दी जा सकती थी।

इस तरह उनकी दान धारा आरम्भ से ही जारी थी। जयपुर में आनेवाले कोई भी व्यक्ति जो कि किसी काम की सहायता के निमित्त आते थे आप से कुछ न कुछ अवश्य पाते थे। कोई विद्वान्, कोई कथा-वाचक, कोई गुणी, जो भी आता, आप से उसका सम्मान अवश्य होता था। उनकी इस दान धारा में अर्थसलिल कितना प्रवाहित हुआ यह ठीक ठीक बताना कठिन है। पर आरम्भ से अन्ततक सहस्रों रुपयों का योग बैठ जाना सहज बात है।

सम्पत्ति का आना और जाना दोनों बातें चलती थीं। सब मिलाकर तीनलाख से कुछ न कुछ अधिक सम्पत्ति उनकी दान में लगी है। सम्वत् ६० से ८५ तक करीब पांच साढ़े पांच लाख उनने उपार्जन किये। उनमें से घरका खर्च, औषधालय का खर्च मिलाकर लाख के करीब उसमें चला गया। चालीस हजार के करीब शहर के स्थान निर्माण में लग गया। पांच चार दुकान तथा एक मकान और भी लिया गया। करीब इतनेही उनमें व्यय होगये। तीनलाख दान में चले गये। लोगों

का खयाल है कि उनने पचासोंलाख रुपये पैदा किये होंगे। यह आनुमानिक धारणायें थीं। और ऐसे व्यक्तियों के विषय में ऐसी धारणायें होना असंगत भी नहीं। पर वस्तुत: ऐसी बात नहीं था। स्थानीय आमदनी तो कोई अधिक थी ही नहीं। आमदनी का अधिक भाग बाहर ही से आया था; पर जैसे भी आया उस सबका यथोचित उपयोग कर दिया गया। क्या इस स्थिति को जानने के पश्चात् भी उन्हें कोई अदानी कह सकता है ? नहीं।

(शिष्य-स्नेह)

पूज्य गुरु चरणों का प्रधान कार्य अध्यापन का था। जीवन प्रवेश के आरम्भ ही से यह काम अपनाया था, जोकि जीवन समाप्ति के छः वर्ष पहिले तक बराबर चलता रहा।

शिष्य समुदाय के साथ वे पितृवत् स्नेह किया करते थे। वे छोटे बड़े, साधारण असाधारण सब शिष्यों पर एकसी स्नेह वृष्टि किया करते थे। श्री गुरुचरणों का व्यवहार प्राचीन गुरु शिष्य सम्प्रदाय का पूरा प्रतीक था।

स्वामीजी का प्रभावोत्पादक चरित्र उनके शिष्यों पर भी पर्याप्त प्रभाव डालता था। इसका इस से अच्छा और क्या प्रमाण दिया जाय कि स्वामीजी से शिक्षा पाये हुये शिष्यों में एकभी आज ऐसा नहीं है जिसको हम सामाजिकता स्थिति में अनुपादेय कह सकें।

स्वामीजी सफल अध्यापक के साथ २ शिष्यों के पथ प्रदर्शक भी थे। वे उनकी आई हुई कठिनाइयों को सर्वदा दूर करते थे।

आरंभ से अन्ततक स्वामीजी के निवासस्थान पर शिष्यों का आवास बनाही रहा। कभी २ तो आठ दश शिष्य तक उनके स्थान में निवास करते रहे हैं। असहाय छात्रों की भोजन-वस्त्र पुस्तक तथा स्थान आदि सभी प्रकारकी आवश्यकतायें आपसे पूरी होती थीं।

आप शिष्यों से कैसा स्नेह करते थे इसके लिये इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि उनका अन्तरंग से अन्तरंग कार्य भी शिष्यों की संमति के लिये शिष्यों के समक्ष लाया जाया जाता था।

वे अपने शिष्यों से किसी भी काम में थोड़ा सा भी भेद भाव नहीं रखते थे। उनके जीवन में उनके कई प्रतिभासम्पन्न मेधावी शिष्य असमय में स्वर्गारोहण कर चुके थे। वे उनकी प्रायः ही याद किया करते थे।

स्वर्गीय पडितप्रवर श्रीनारायणदत्तजी खुरजे वालों के स्वर्गारोहण से उनको इतना संताप हुवाथा कि वे कई दिन तक अपनी खिन्नता को मिटा नहीं सके। उनके शिष्य प्रेम के विषय में अधिक क्या कहा जाय। इतनाही कहना अल्प होगा कि वे इस दिशा में भारतीय प्राचीन "गुरु शिष्य सम्प्रदाय" के मूर्तिमान् आदर्श थे।

(यात्रा)

स्वामीजी आरंभही से धार्मिक पुरुष थे। उनका अन्तःकरण अत्यन्त सात्विक था। वे पूरे आस्तिक धर्म प्रेमी, कृपालु, तथा पक्के सनातन धर्मानुयायी थे।

तीर्थों में वे पूरा प्रेम रखते थे। यही कारण है कि उनकी रहन सहन

अत्यन्त नियमित होते हुये भी उनने तीर्थाटनों के लिये पर्याप्त कष्ट सहन किया।

वे भारत के मुख्य चारों तीर्थ धामों की यात्रा कर आये थे। उन्होंने जो तीर्थाटन किया वह केवल रूढी या परम्परागत पद्धति को प्रधानता देकर नहीं किया। प्रत्युत तीर्थाटन की पुनीत और श्रद्धा सम्पन्न भावना ही उनमें मुख्य थी।

बद्रीनाथ की पर्वतीय यात्रा गंगोत्तरी का दुर्गमपथ (उनकी रहन सहन तथा शारीरिक स्थिति को देखते हुये) पार करना कितना कठिन था। पर उनकी अनन्य श्रद्धा ने ही उन से वह कार्य सम्पन्न कराया। मैं स्वय रामेश्वर को छोड शेष तीनों धामों की यात्रा में उनके साथ था। उनकी श्रद्धा सम्पन्न भावना का निर्मल श्रोत जिस तरह प्रवाहित होता था उसको अति समीप से मैंने देखा है। वे किस तरह उन पावन स्थानों में पहुंच तल्लीन हो जाते थे उसको शब्दों द्वारा प्रगट करना कठिन है। भारत के प्रमुख २ सभी तीर्थ उनने देख लिये थे। उनकी इन यात्राओं से उनके धार्मिक जीवन की विशुद्ध आभा सहज ही हमारे सामने आ-जाती है। उनकी तीर्थ यात्रायं सफल थी और थे वे वास्तविक तीर्थ यात्री।

रोग और निर्वाण—

कार्य परित्याग करने के समय से ही वैद्यजी की धारणा थी कि उनका शरीर छियासठ वर्ष से अधिक नहीं रहेगा। इसका हेतु जन्मकुण्डली का फल था। उनका उसपर पूरा विश्वास था। वैशाख शुक्ला १५ को ग्रहण था। इसी रात्रि को सहसा कुछ घबराहट तथा बेचैनी

मालूम हुई। हृदय में दर्द भी ज्ञात हुआ। दो तीन दिन इसी तरह व्यतीत हुए, विशेष विचार किया नहीं, न उनने इसका जिक्रही किया। चौथे दिन स्वामीजी ने अपने स्वास्थ्य की गड़बड़ का निर्देश किया। घबराहट और बेचैनी के साथ साथ कुछ ज्वरांश भी होने लगा। सामान्य उपचार प्रारम्भ किया गया। पर व्याधि में कमी की बजाय कुछ न कुछ अधिकता होती गयी। ज्वरका अनुबन्ध दूर नहीं हुआ। ज्वर में ही कभी कभी ऐंडे श्वास का भी प्रावल्य होने लगा। तब व्याधि की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया। डाक्टर ज्वालाप्रसादजी को बुला कर परीक्षण कराया गया तो ज्ञात हुआ कि रक्तभार कुछ बढगया है। इसका निश्चय होने से तदनुरूप पथ्योपचार होने लगा। रक्तभार पांच दश दिन में जाकर कुछ कम हुआ। ज्वर का भी अनुबन्ध छूट गया। पुनः पथ्य आरंभ किया गया। एक दो रोज के पश्चात् ही पुनः ज्वर का अनुबन्ध होगया। वैसे ही श्वासकी गति में भी कभी कभी अन्तर पड़ने लगा। पुनः रक्तभार का परीक्षण किया गया, तथा हृदय परीक्षा का भी। उससे ज्ञात हुआ कि हृदय का काम भी समुचित नहीं हो रहा है। ऐसा ज्ञात होने पर रक्तभार तथा हृदयरोग की चिकित्सा की गयी। पर शरीर का समय आगया था। चिकित्सा अनुकूल नहीं पड़ी। दो दिन बीमारी कुछ कम मालूम देती, पर पलट कर और भी तीव्र रूप में प्रगट होती स्वामी जी का तो अपना निश्चय था ही कि शरीर का समय समीप आगया है। पर हम सब का ध्यान तो इसी ओर था कि रोग कम कैसे हो। रोग का निर्णय ठीक है और उस का उचित इलाज हो रहा है। फिर बीमारी में अन्तर न पड़ अधिकता क्यों हो रही है। सब को एक चिन्ता सी रहने लगी। सारे जयपुर का ध्यान बाग की ओर लग गया। डाक्टरों का निर्देश था कि अधिक व्यक्ति इन से मिलें नहीं, न ये अधिक बातचीत करें। व्यवस्था वैसी ही की गयी थी जाने वालों को उनके दर्शन करवा

दिये जाते थे। दिन दिन रोग में कमी पड़ पड़ कर तीव्रता होती थी। जयपुर के वैद्य डाक्टर सब का ध्यान इनकी ओर लगा हुआ था। सब अपने ज्ञान को पूरा पूरा अमल में ला रहे थे। पर व्याधि का रूप कम नहीं हो रहा था। लाहोर से महाराज के शिष्य सफलचिकित्सक ठाकुरदत्तजी मुलतानी आये। बम्बई से यादवजी महाराज पधारे। देशी औषधियों का उपचार विशेष ध्यान से किया गया, पर व्याधि में कुछ कमी नहीं हुई। कुछ व्यक्तियों की राय हुई कि होमियोपैथी का इलाज कराया जाय। आगरे से एक विख्यात होमियोपैथिक डाक्टर बुलाये गये, जो कि एलोपैथी के भी डाक्टर थे। उनकी चिकित्सा आरम्भ की गयी। प्रारंभ में उससे भी लाभ सा प्रतीत हुआ। सात आठ दिन क्रम चलने पर खयाल हुआ कि शायद इसमे कुछ रोग काबू में आजाय पर सहसा एक सप्ताह निकलने के बाद रोगने पलटा खाया और एक दम भीषण स्थिति बन गयी। पुनः एलोपैथी चिकित्सा आरम्भ की गयी। फिर डाक्टरों का यह विचार हुआ कि हार्ट का एक्सरे किया जाय। एक्सरे करने से ज्ञात हुआ कि हृदय पर आवृत रहने वाली झिल्ली में पानी भर गया है। पानी निकाले बिना उपचार संभव नहीं। सबकी सम्मति होने पर पानी निकाला गया। पर रोग में कोई कमी नहीं हुई। समय समीप आरहा था। स्वामीजी सब तरह से निश्चिन्त थे। जो कुछ उपचार हमलोग करते थे उसमें असहमति नहीं करते थे। वैसे कई बार— "ओषधिर्जान्हवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः" यह श्लोक पढ़ देते और कहते कि ईश्वराराधन करना चाहिये। अब सब से उत्तम यही औषध है। बीमार होने के कई दिन पश्चात् से पानी के स्थान पर गंगाजल लेना आरंभ कर दिया था। अन्न तो लेते नहीं थे। फलों का रस और गंगाजल यही उनका आहार था। दिन दिन समय समीप आरहा था।



हम सब शोक कातर थे किन्तु वह दिव्य आत्मा अपना करने का काम पूरा कर के हमारे सामने अपना दिव्य आदर्श छोड़ गये।

शोकप्रकाश—

स्वामीजी का व्यक्तित्व कितना महान था यह उनके न रहने पर ज्ञात हुआ। उनके स्वर्गारोहण का समाचार इतनी शीघ्रता से सारे देश में फैला कि जिस पर आश्चर्य सा हुए विना नहीं रहता। और जिस स्थान पर यह समाचार पहुंचा वहीं शोकसभायें मनाई गई। बङ्गाल, मद्रास, बम्बई, सी. पी., यू. पी., पंजाब, सिन्ध, और राजपूताना आदि सारे प्रान्तों से तार और पत्रों का ताँता लग गया। भारत के बड़े बड़े पुरुषों, राजा महाराजाओं तथा सेठ साहूकारों की ओर से समवेदना-सूचक पत्रों की इतनी संख्या पहुंची कि उनका प्रत्युत्तर दिया न जा सका। यावन्मात्र प्रान्तों की वैद्यसभाओं ने शोकसभायें और शोकप्रस्ताव के साथ समवेदनामयपत्र तथा तार भेजे। देश की यह सब भावना ही इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि स्वामीजी का व्यक्तित्व महान् था। वे पधार गये पर उनकी कृति तथा उनकी सेवा का परिणाम सर्वदा बना रहेगा। भारतीयता के सच्चे पुजारी स्वामीजी का आदर्श जीवन आयुर्वेदसेवकों तथा साधुसमुदाय के लिये सर्वदा प्रेरणा का हेतु रहेगा। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं। मैं आशा करता हूं कि साधु समुदाय तथा आयुर्वेदहितचिन्तक महानुभाव तथा भावी वैद्य स्वामीजी के आदर्श को अपना कर अपना जीवन उन्हीं की तरह सफल बनायेंगे।

(उपसंहार)

स्वामीजी के जीवन की प्रमुख विशेषताओं का प्रतिपादन पूरा होचुका है। आधुनिक दृष्टिकोण से स्वामी का 'जीवनचरित्र' उपादेय है या नहीं इसका विश्लेषण पाठकों ही पर छोड़ देता हूं।

'जीवनचरित्र' का मुख्य उद्देश्य आदर्श है। किस व्यक्ति ने किस पद्धति तथा किन विशेषताओं से अपने को सामान्य स्थिति से ऊँचा उठाया है, यही जानने की बात है, उसकी पूर्ति इससे भी हो जायगी इस में कोई सन्देह नहीं। भाषा वाक्य योजना तथा विश्लेषणात्मक दृष्टि पर अधिकार रखने वाला व्यक्ति इसको और भी विशेष ढंग से लिख सकता था, पर मैं आरम्भही में यह व्यक्त करचुका हूँ कि मैं कोई लेखक नहीं हूँ अतः इन हेतुओं से इसमें जो कुछ न्यूनतायें हैं वे मेरी हैं। चरित्र नायक के व्यक्तित्व पर उससे कोई प्रतिबन्ध उपस्थित हो ऐसी बात नहीं है।

अधिकांश स्थानों में 'श्रीगुरुचरण' 'पूज्यपाद' आदि विशेषणों का भी प्रयोग हुवा है, जो आधुनिक दृष्टिकोण वालों की दृष्टि में एक प्रकार का "गुरुडम" है, पर में विवश था वैसे दृष्टिकोण वालों को प्रन्सनता के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग न करने में। अब एक बात और रहजाती है कि क्या? स्वामीजी में एकान्ततः गुणही गुण थे उनमें किसी प्रकार की कमी थी ही नहीं। यदि थी तो उसका उल्लेख इसमें कहां किया गया है। मेरी समझ से सामान्य 'जीवनचरित्र" के नाते इस बात की विशेष आवश्यकता नहीं है, क्यों कि हमें चरित्र नायक के उसी भाग से मुख्य प्रयोजन है जो समाज के अवयवी भूत मनुष्यों को ऊँचे उठने में प्रोत्साहित कर सके। व्यक्ति की न्यूनतायें इसमें कोई सहायक नहीं होती, पर आजके

समय का तगादा है कि व्यक्ति की कमी भी सामने आनी आवश्यक है, अन्यथा वह वस्तु एक पक्षीय है।

प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ न्यूनता न हो ऐसा होना दुर्लभ है स्वामीजी भी व्यक्ति ही थे, उनमें भी कुछ स्वाभाविक कमियें थीं, पर उन कमियों ने उनके प्रधान जीवनपथ पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाला था।

स्वामीजी का जीवन व्यावहारिक है, उनने धन कमाया, चिकित्सा की, प्रतिष्ठा प्राप्त की। धन के साथ धन का लेन देन भी होता ही है, स्वामीजी के यहां भी लेन देन का काम होता था। व्याज पर, मेल मुलाकात से धन का आदान प्रदान होता था लेन देन में हरेक मनुष्य सतर्क रहता ही है स्वामीजी भी इसमें सतर्कता रखते थे। इसके कारण कभीर ऐसे व्यक्तियों के साथ भी उन्हें कठोर बनना पड़ता था जिनके साथ मानवता की दृष्टि से कठोर नहीं बनना चाहियें। इस विषय में उनकी दृढ़ता कभीर अखरने जैसी होजाती थी, न्यायतः तो यह बात बुरी नहीं है, पर व्यवहार तथा मानव सभ्यता के नाते इसको कुछ दोष कहा जा सकता है। स्वामीजी में इसकी कुछ मात्रा थी।

मैं पीछे स्वामीजी के क्षणिक कोप का उल्लेख कर चुका हूँ-पर वे कभीर बहुत छोटी सी बात पर भी बहुत अधिक असन्तुष्ट हो जाते थे, विचार दृष्टि से देखाजाय तो इसको संगत नहीं कहा जा सकता। हेतु के अनुरूप ही विचार रहना चाहिये। पर स्वामीजी से इसका प्रायः उल्लंघन होजाता था। वे जब क्षुब्ध होते तो फिर यह ध्यान नहीं रहता कि आगे वाला व्यक्ति भी आखिर व्यक्ति है। यह बात वे उस घटना के खतम होजाने पर समझ जाते थे, उसका उन्हें विचार भी होता था, पर समय पर पुनः उनसे वैसाही होजाता था। अतः कहना पड़ेगा कि यह उनकी स्वाभाविक दुर्बलता थी।

स्वामीजी आरंभही से एकाकी रहे अतः उनके जीवन का ढांचा कुछ ऐसा बनगया था कि वे प्रायः संकोचप्रधान ही रहते थे। उनका यह संकोच 'मिलनसारी' का बाधक था। किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के आने पर वे अपने स्वभावानुसार बहुतही कम बात कर पाते। उसके अनुरूप उनका व्यवहार नहीं बन पड़ता था। कभी २ तो इस संकोच से आगत सज्जन को बहुत कुछ निराश होना पड़ता था। पर बाल्य जीवन की यह प्रकृति अन्त तक इसी तरह चलती रही। बात चीत और व्यवहार से मनुष्य को सतुष्ट करना स्वामीजी के साध्य नहीं था। कई बार इस स्थिति के कारण हुई कुछ बातों पर उनका ध्यान आकर्षित करने पर उनने यही कहा कि हमारे से इसमें अब विशेष संशोधन नहीं होसकता। उनको उच्च व्यक्तित्व के कारण इस कमी का विशेष परिणाम नहिं हुवा अन्यथा यह कमी स्वामीजी में और कमियों से अधिक मात्रा में थी।

'आतिथ्य' परिचित तथा अधिक सांनिध्य वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त स्वामीजी का ध्यान 'आतिथ्य' की ओर बहुत कम था। उनके किसी प्रकार की कमी नहीं थी पर वे इस दिशा में बहुत पीछे थे। ये उनके जीवन की कमियें हैं जो स्वभावतः या आदतन उनमें आगई थीं। शेष उनका जीवन पुनीत ही था। मैं समझता हूँ कि विज्ञ पाठक इस महान् विभूति के चरित्र से उत्तम शिक्षा ग्रहण करेंगे।

क्षमायाचना—

स्वामीजी का जीवनचरित्र जिस रूप में लिखा जाना चाहिए वैसा नहीं है। इसमें जो कुछ त्रुटियें हैं वे मेरी अल्पज्ञता की हैं। अतः मैं एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हूं। पाठक मेरी न्यूनताओं पर ध्यान न देंगे।

आ० कृ० ५ १९९७। ॥हरि ओम्॥